

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष : 2, अंक : 3 जनवरी - मार्च - 2015

# मुक्तांचल

मूल्य : 50 रुपये



विद्यार्थी मंच



# उस पार से...

जयशंकर प्रसाद

(30 जनवरी 1889 - 14 जनवरी 1937)



काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निःसंदेह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।

इसी कारण हमारे साहित्य का आरंभ काव्यमय है। वह एक द्रष्टा कवि का सुंदर दर्शन है। संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन शक्ति को वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व से सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है। कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण होती हैं, इसके क्या प्रमाण हैं? किन्तु इसीलिए साथ ही साथ असाधारण अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों के अन्तर्निहित रहती है; क्योंकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञानधारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुंदर और ऊर्जस्वित बनाती है।

काव्य कला और अन्य निबंध

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

# मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-2, अंक- 3, जनवरी-मार्च 2015

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा

सह-संपादक : डॉ. अर्चना पाण्डेय

प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा

प्रबंध संपादक : सुनील कुमार साव

कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव

व्यवस्थापन :

सुलेखा कुमारी, सोनम सिंह,

श्वेता रस्तोगी, नगीना लाल दास, अम्बर चौधरी

विशेष सहयोग :

डॉ. सुनीता साव, डॉ. दीपान्विता माजि, (कोलकाता)

डॉ. मनीषा झा (दार्जिलिंग), पुनीत कुमार राय (छत्तीसगढ़),

लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता (वाराणसी), रविकांत (लखनऊ),

मनोज कुमार साव (उत्तराखंड), राजीव रंजन (दिल्ली),

आनंद प्रसाद नोनिया (भुवनेश्वर)

आकल्पन : सोनू प्रजापति

मूल्य

एक अंक- ₹ 50/-

सदस्यता शुल्क

वार्षिक- ₹ 200/-, आजीवन- ₹ 2000/-

संस्थाओं के लिए

वार्षिक- ₹ 250/-, आजीवन- ₹ 2500/-

डाकखर्च अतिरिक्त ₹ 30 देय होगा।

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लैन

सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल

संपर्क - 0332675 7195/1686

ई-मेल - muktanchalquarterly2014@gmail.com

संपर्क :

संपादक : 098314 97320,

Email : sinhameera48@gmail.com

सह- संपादक : 098308 39032

Email : pandeyarchanaphd@gmail.com

प्रबंध संपादक : 09836943231

Email : shawsunil30@gmail.com

मुद्रक

शिक्षण

50, सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता-700 009

## प्रसाद केन्द्रित अंक

संपादन और प्रकाशन- अवैतनिक

पत्रिका में व्यक्त विचार से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं

'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र

कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

## अवस्थिति

शो	संस्तुति	
ध	आलेख	
स	08 कृष्णदत्त पालीवाल :	कामायनी : सर्वाधिक विवादास्पद कृति
मी	21 प्रो. सूर्य प्रसाद दीक्षित	मुक्तिबोधकृत कामायनी-मूल्यांकन
क्ष	30 विजय बहादुर सिंह	कवि की प्रतिभा : संदर्भ शलभ श्रीराम सिंह
ण	37 रामनिहाल गुंजन :	ध्रुवदेव मिश्र पाषाण की परवर्ती काव्य-यात्रा
	अनुशीलन	
	41 डॉ. मीनाक्षी जोशी :	कामायनी में समय की अनिवार्य उपस्थिति
	44 डॉ. सुनीता गुप्ता :	महादेवी : स्त्री आकांक्षाओं का छायालोक
	विमर्श	
	49 डॉ. उमेश चंद्र शुक्ल :	आदिवासी अस्मिता और साहित्य
सृ	पुनर्पाठ	
ज	57 डॉ. रंजना अरगड़े :	कामायनी-पुनर्पाठ
न	अन्तःपाठ	
	61 डॉ. कमल कुमार :	जयशंकर प्रसाद की कविता 'प्रलय की छाया'
	गवेषणा	
	64 देवनाथ सिंह आनंद गौतम :	जयशंकर प्रसाद की सृजन-यात्रा में नियतिवाद का अन्तर्दर्शन
सं	कविता	
चा	74 शिवमंगल सिद्धांतकर:	भाड़े की भीड़, एक मौत कई मौतें, दर्द के दांत, खरा सोना, पगुराते पेड़, विचारों की जंग
र	76 राजेंद्र कुमार:	इतना भी कम नहीं, सूरज और चाँद से एक बातचीत आत्मा जो अब तक आवाज थी, सदेह
	77 काली प्रसाद जायसवाल:	ईश्वर, हँसी का गुम होना, तुम नहीं थे
	79 ज़हीर कुरेशी :	ग़ज़ल

शोध	नई पहल नया कदम	
	80 विद्या रजक :	सच्चा साथी, मेरे सपने, कौन है तेरे साथ
समीक्षण	कहानी	
	81 सुबोध कुमार श्रीवास्तव:	क्या यह प्रेम कहानी है ?
	89 सुधीर निगम :	उपाय
	93 कविता विकास :	मेरा आकाश
	भाषान्तर	
सृजन	98 सुशांत सुप्रिय	नदी का तीसरा किनारा ( लातिनी अमेरिकी कहानी ) मूल कथाकार: जोआओ गुडमारेस रोसा
	पुस्तकायन	
	103 पुनीता जैन :	सशक्त संवाद की कविताएँ – ‘मोक्षधरा’
संचार	108 डॉ. शिव ओम अम्बर :	‘यूँ ही’ अशोक अंजुम का ग़ज़ल संग्रह
	गतिविधियाँ	
	111 साहित्यिक गतिविधियाँ	
	113 अभिमत	
संसार	110 मुक्तांचल प्राप्ति स्थान	

## संस्तुति

‘मुक्तांचल’ का यह अंक प्रसाद-साहित्यालोचन पर केंद्रित है। भारत मुक्ति आंदोलन एवं नवजागरण की पृष्ठभूमि पर रचित प्रसाद-साहित्य अपने में गहन गवेषणा एवं विविध विमर्शों का आगार है। उन्होंने अपनी लेखनी से साहित्य की विभिन्न विधाओं को समृद्ध किया है। प्रसाद हिंदी नाट्य परम्परा के एक युग स्तंभ हैं ठीक वैसे ही जैसे प्रेमचंद कथा-युग के। उनकी भाव-प्रवण कहानियाँ एवं यथार्थवादी उपन्यास अविस्मरणीय हैं। प्रसाद जैसे समर्थ रचनाकार ने अपनी परम्परा को स्वच्छन्दता से गहा है, तोड़ा है तथा विकसित भी किया है। उनकी दार्शनिक उद्भावनाएँ एवं काव्य-लालित्य कथ्य एवं शिल्प दोनों ही स्तर पर परवर्ती रचनाकारों को प्रभावित करते रहे हैं। प्रसाद-साहित्य में उनकी मूल्य चेतना सबसे अधिक कीमती है, परवर्ती काल में मुक्तिबोध काव्य में भी मुक्ति की वही मूल्य चेतना, तीव्र उत्सर्ग का वही भाव दिखलाई पड़ता है; ‘अभिव्यक्ति के खतरे उठाने ही होंगे’ या ‘संकल्प धर्मा चेतना का रक्त प्लावित स्वर’ की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं प्रसाद खड़े दिखाई पड़ते हैं। प्रसाद जड़ होती शास्त्रीयता को तोड़कर आधुनिकता के आग्रही हैं, अतः निर्बन्ध और निर्बाध हैं। उनके साहित्य संसार में अभी भी साहित्यालोचन के अनेक आयाम निहित हैं।

आज साहित्य का अकादमिक जगत ‘उत्सवधर्मी’ हो गया है। शोध एवं गवेषणा की प्रवृत्ति लगभग क्षीण होती जा रही है। बाजार शोध प्रकाशनों से भरा है परन्तु उनमें गुणवत्ता का सर्वथा अभाव है। ‘सेलिब्रेशन’ और प्रदर्शन आज के समय की पसंद है। अकादमिक जगत की आधारशिला आँकड़ों पर आधारित है— आँकड़े बनाए रखने के लिए खानापूर्ति की प्रवृत्ति तीव्र होती जा रही है। लगता है बहुत कुछ हो रहा है मगर वह ‘बहुत कुछ’ एक ‘हंगामे’ के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। नई सदी की संस्कृति ‘हंगामे की संस्कृति’ है— हंगामों के जखीरे से सारा माहौल अटा पड़ा है। हर कोई अपने को टिकाये रखने के संकट से तनावग्रस्त है क्योंकि पैर तले सैकड़ों सुराखे हैं और आसमान विस्फोटकों से भरा हुआ है। ऐसे में साहित्य, दर्शन और कला एक सुरक्षित जगह तैयार कर सकती है— न केवल बचने के लिए बल्कि आने वाले समय को अमानवीय होते जाने से बचाने के लिए भी।

अध्ययन केंद्रों, विश्वविद्यालयों एवं विभिन्न संस्थानों में भी अध्ययन-अध्यापन के बीच बहुत सारी अलग चीजें सवार नज़र आती हैं। कई-कई सत्रों में बँटा पाठ्यक्रम और उसकी परीक्षाएँ विद्यार्थियों को किनारे से निकल जाने के लिए मजबूर कर देती हैं। ‘कामायनी’ के कुछ अंश, ‘राम की शक्ति पूजा’ के कुछ अंश, ‘अँधेरे में’ और ‘साकेत’ के कुछ अंश, उपन्यास और कहानियों से व्याख्या नहीं आने की सहलूयित— नाटक पर आधारित फिल्म देख लेने की कवायद से घिरे विद्यार्थी केवल अंक बटोर सकते हैं, डिग्रियां खरीद सकते हैं। ‘टेक्स्ट’ न पढ़ पाने की आदत उन्हें साहित्य से कैसे विलग कर रही है वे इसे तभी समझ पाते हैं जब स्वयं अध्यापन के लिए मुखातिब होते हैं। पता नहीं क्यों आज का पढ़ने-पढ़ाने वाला समाज इतना गैर ‘सेन्सेटिव’ क्यों हो रहा है। हम जिस पेशे को अपनी वृत्ति बनाते



हैं उसके प्रति न हममें कोई लगाव होता है न उसकी जिम्मेदारी। साहित्य का अकादमिक माहौल इतना सर्द क्यों है समझ में नहीं आता।

किसी समय पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन जिस मशाल का काम करता था वह अब दृश्य माध्यम के हाथों पहुँच गया है और वह अपनी तीव्रता में बहुत अधिक भी है और आगे भी। बीसवीं सदी के पूरे दौर में स्वतंत्रता के पहले और बाद में भी पत्र-पत्रिकाएँ आन्दोलन और बदलाव का उत्स समेटे रहती थीं— वह हर गली, हर मोड़, हर गाँव, हर शहर तक पहुँचने की ताकत रखती थीं परन्तु आज सूचना क्रांति के प्रभाव ने उस ताकत को पस्त और सीमित कर दिया है। फिर भी, निराशा का कोई कारण नहीं है। अभी भी एक तरह के लोग एकजुट हो सकते हैं— एक लक्ष्य से बँध सकते हैं। विचार और दृष्टि विश्लेषण के बगैर हम न्याय-नैतिकता, औचित्य और मानवता को नहीं बचा सकते। इन सभी चीजों के लिए साहित्य की तरफ लौटना जरूरी होता है। ‘मुक्तांचल’ जैसी लघु पत्रिकाएँ अपनी कोशिश में इसी माहौल को गढ़ने की पहल भर है, क्योंकि ऐसी पत्रिकाएँ सदा आंदोलन का माध्यम रहीं हैं, अभी भी हैं— आज के जमाने के हिसाब से बहुत बड़ा नहीं कर पायेंगे तो क्या हुआ, कुछ गहरी लकीरें तो डाल ही सकेंगे। लघु पत्रिकाएँ समानधर्मा साहित्यजीवियों एवं चिंतकों का एक साझा मंच होती हैं। पढ़ने-लिखने एवं सोचने-समझने वालों की मुलाकातें कहीं न कहीं इस साझा मंच से जुड़ी रहती है। ‘मुक्तांचल’ भी एक ऐसे ही साझे मंच की पहल करने वाली पत्रिका है जिसकी ज़मीन तो बन रही है पर आसमान किसी ने नहीं देखा। उम्मीद रखने और बढ़ते जाने में बुराई कुछ नहीं है। अतः सुधि पाठकों, चिंतकों एवं रचनाकारों के मिले-जुले प्रयास की परिणति के रूप में उपस्थित होने की कोशिश में जुटा होता है ‘मुक्तांचल’ का प्रत्येक अंक।

‘मुक्तांचल’ के अप्रैल-जून 2015 के अंक के लिए हम लोगों ने कथालोचना को केंद्रित किया है। इस अंक में सभी नियमित स्तंभों के साथ कथा-साहित्य पर केंद्रित आलेख, गवेषणा, अनुशीलन, विमर्श, पुनर्पाठ तथा पुस्तकायन को वरीयता दी जायेगी। क्या हिंदी कथा-साहित्य को नापने-जोखने का काम सिर्फ प्रेमचंद के हवाले से ही हो सकता है? क्या प्रेमचंद पूर्व और प्रेमचंदोत्तर कहानी एवं उपन्यास कहकर उन समस्त कृतियों के प्रति हम न्याय कर पाते हैं, जिनसे हमारा तीन शतकों का कथा संसार भरा पड़ा है। ऐसे बहुत सारे बहस और विमर्श हो सकते हैं जिनसे सुधि चिंतकों एवं लेखकों से अनुरोध है कि वे अपने महत्वपूर्ण लेखों एवं गवेषणाओं का अनुदान अवश्य दें। उनकी यह साझेदारी साहित्य, समीक्षण एवं सृजन के क्षेत्र में नये संकेतक तैयार करेगी। दिशाएँ हमेशा खुलती हैं मगर संकेत पहले से ही मिलने लगते हैं। आज के कठिन समय में साहित्य हमारे लिए ‘तुमुल कोलाहल कलह में’ हृदय की उस बात की तरह है जो मनुष्यता को अभिसिंचित करती है।

  
संपादक

‘प्रसाद’ की एक सौ पच्चीसवीं जन्मशती पर विशेष

## कामा-नी : अर्थाधिक विवादास्पद कृति

कृष्णदत्त पालीवाल

(4 मार्च 1943- 8 फरवरी 2015)

उत्तर-आधुनिक सम-1 में आधुनिक हिंदी कविता की सबसे महान कृति ‘कामा-नी’ पर विचार करना एक बड़ी चुनौती नहीं है क्या? आज आधुनिक साहित्य-1 चिंतन के पाठ एवं आस्वाद की नए सिरे से समीक्षा करना उचित है क्या? क्योंकि कृति के पाठ-विमर्श की दृष्टि में गुणात्मक परिवर्तन आ गया है। तमाम रूपों, मूल-गों, विचारधाराओं का अंत हो गया है। ऐसे नव-उत्तर-औपनिवेशिक परिवेश में ‘कामा-नी’ के पुनर्मूल-गांकन का प्रश्न बहुत जोखिम भरा कार्य हो गया है। -ह ठीक बात है कि पुनर्मूल-गांकन, पुनर्विचार के माध्यम से हम पूरी चिंतन परंपरा से जुड़ते हैं। फिर ‘कामा-नी’ एक ऐसी सर्वमान्य क्लासिक कृति है कि सम-1 उसे पुराने -1 बासी स्वाद की कृति बनाने की स्थिति में नहीं है। -ही कारण है कि आलोचकों ने आधुनिक आलोचना में सबसे ज्यादा ध्यान ‘कामा-नी’ की समीक्षा पर केंद्रित किया है। हिंदी आलोचना में संवाद-विवाद भी ‘कामा-नी’ को लेकर ही अधिक हुआ है। मैं मानता हूँ कि इन विवादों को ज-शंकर प्रसाद ने ही इस कृति की ‘भूमिका’ से जन्म दिया है। ‘कामा-नी’ के प्राचीन आख्यान में रूपक का संकेत (पात्र-स्थान प्रतीकों का संकेत) प्रसाद जी ने ही दिया है।

‘कामा-नी’ को लेकर पहली गंभीर आलोचना आचार्य रामचंद्र शुक्ल के ‘हिंदी साहित्य का इतिहास’ में मिलती है। ‘कामा-नी’ का प्रकाशन 1936-37 में हुआ, जिसे साहित्य में छा-वादी -गुग और राजनीति में ‘सत्-ाग्रह -गुग’ कहा जा सकता है। विश्व भर की वैचारिक धाराएं इस -गुग की मनोभूमिका का निर्धारण कर रही हैं और देश मुक्ति-संग्राम लड़ रहा है अंग्रेजी साम्राज्य-वाद से। पूरे परिवेश की संवेदना में मुक्ति के लिए पुकार है। ‘कामा-नी’ इसी मुक्ति चेतना की पुकार है। इसी अर्थ में ‘कामा-नी’ जीवन से भरी फन्तासी है-सामूहिक अवचेतन का स्वप्न है, पुनर्चना है और हमारी जाती-1-स्मृति, जाती-1 अस्मिता का बिंब-प्रतिबिंब।’ ज-शंकर प्रसाद के सामने बनारस में मौजूद आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ‘कामा-नी’ को उदात्त आभामंडल का महाकाव्य नहीं कहा है। आचार्य शुक्ल का ‘हिंदी साहित्य का इतिहास’ में कथन है कि “किसी एक विशाल भावना को रूप देने की ओर भी अंत में प्रसाद जी ने ध्यान दिया, जिसका परिणाम है ‘कामा-नी’।’ इसमें उन्होंने अपने प्रि-1 ‘आनंदवाद’ की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमती भूमिका बनाकर की है। -ह ‘आनंदवाद’ बल्लाभाचार्य के ‘का-1’ -1 आनंद के ढंग का न होकर, तान्त्रिकों और -योगि-गों की



अन्तर्भूमि पद्धति पर है। प्राचीन जलप्लावन के उपरांत मनु द्वारा मानवी सृष्टि के पुनर्विचार का आख्यान लेकर इस प्रबंध काव्या की रचना हुई।” इस प्रबंधकाव्या की रूपक कथा पर ध्यान देकर आचार्य शुक्ल ने कहा कि “रूपक की भावना के अनुसार श्रद्धा विश्वास समन्वित रागात्मिक वृत्ति है और इड़ा व-वसा-गात्मिका बुद्धि। कवि ने श्रद्धा को मृदुता, प्रेम और करुणा का प्रवर्तन करने वाली और सच्चे आनंद तक पहुंचाने वाली चित्रित कि-गा है। इड़ा -गा बुद्धि अनेक प्रकार के वर्गीकरण और व-वसा-गों में प्रश्न करती हुई कर्मों में उलझाने वाली चित्रित की गई है।” साथ ही उन्हें इस विशद काव्या की अन्तर्-गोजना का समन्वित प्रभाव खंडित लगा। आचार्य ने इस कृति में ‘मधुचर्चा का अतिरेक’ और रहस्य-भावना की प्रवृत्ति को भी बाधक पा-गा। उन्हें इस ‘कामा-नी’ काव्या के भीतर मानवता की -ोजना का पूर्ण और सुव-वस्थित रूप प्रस्तुत करने वाला काव्या नहीं दिखाई दि-गा है। दरअसल उन्हें ‘कामा-नी’ प्रबन्धकाव्या तो दिखाई दी, महाकाव्या नहीं। आचार्य शुक्ल के बाद आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने ज-शंकर प्रसाद तथा ‘कामा-नी’ पर गंभीरता से कृति के अनुभव की संश्लिष्टता की दृष्टि से विचार कि-गा। काव्या समीक्षा की -ह नवीन पद्धति छा-गावाद -गु के प्रखर आलोचक आचार्य वाजपेयी ने ‘कामा-नी’ के विश्लेषण मूल-गांकन पर लागू की। उनकी दृष्टि ‘कामा-नी’ के संश्लिष्ट काव्या विधान के बारे में स्पष्ट एवं साफ रही है। समग्रता में आचार्य वाजपेयी ‘कामा-नी’ के मुक्त कंठ से प्रशंसक रहे हैं। ‘कामा-नी’ जैसी सर्वाधिक विवादास्पद कृति पर आचार्य वाजपेयी ने कई कोणों से प्रकाश डाला और आचार्य शुक्ल के आक्षेपों का -थासंभव तार्किक समाधान दि-गा। आचार्य वाजपेयी के विरोधी आलोचक कहते रह गए कि वे समाधान सैद्धांतिक स्तर पर ही करते रहे, व-वहार में ‘कामा-नी’ की संश्लिष्टता का उद्घाटन नहीं कर सके। ‘कामा-नी’ पर बाबू गुलाबरा-ग, डॉ. विज-नेन्द्र स्नातक, फतेह सिंह, पंतजी और दिनकर ने निबंध लिखे। लेकिन -ो सभी ‘कामा-नी’ के अध-गान की समस्-गाओं को सुलझा न सके। आगे चलकर आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ‘कामा-नी पुनर्मूल-गांकन’ पुस्तक लिखकर ‘कामा-नी’ के संश्लिष्ट काव्या-विधान पर महत्वपूर्ण

कार्-कि-गा और विनम्रता से -ह स्वीकार कि-गा कि इस कार्-कि-गा में उनके प्रेरणा-स्रोत ग.मा. मुक्तिबोध हैं-जिन्होंने प्रथम बार ‘कामा-नी’ को एक विशाल फैंटेसी के रूप में देखा है। मुक्तिबोध ने कहा कि ‘कामा-नी’ “कलाकार की विधा-क कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना है।” इसी विचार-सूत्र से संकेत पाकर डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ‘कामा-नी’ को एक ‘बिंबमाला’ के जटिल विधान के रूप में विश्लेषित-विवेचित करने का प्र-गस कि-गा।

‘कामा-नी’ पर पूरी आलोचकी-ग तै-गारी के साथ डॉ. नगेन्द्र ने विस्तार से विचार कि-गा है। उनकी पुस्तक ‘कामा-नी के अध-गान की समस्-गाएं’ विश्वविद्यालय-गों तथा प्रबुद्ध सामाजिकों का कंठहार बनी रही। हां, वामपंथी आलोचकों ने डॉ. नगेन्द्र के ‘कामा-नी’ चिंतन पर उपेक्षापूर्ण रवै-ग ही बरकरार रखा। प्रोफेसर नगेन्द्र ने ‘कामा-नी’ के अध-गान-अध-गान की समस्-गाओं पर नए ढंग का विमर्श प्रस्तुत करते हुए कहा कि ‘कामा-नी’ महान काव्या है-महाकाव्या है। उसका अध-गान रसास्वादन की प्रक्रि-गा से कि-गा जाना चाहिए। प्रोफेसर नगेन्द्र ने पश्चिम के मनोवैज्ञानिक आलोचक आई.ए. रिचर्ड्स के छह अवस्थानों को अपनाते हुए अपने भाष-ग को आगे बढ़ा-गा। रिचर्ड्स के छह अवस्थान इस प्रकार हैं : (1) चाक्षुष संवेदन (बिंब विधान) (2) संबद्ध बिंब-विधान (3) स्वतंत्र बिंब विधान (4) विचार (5) भावोद्बोधन (6) दृष्टिकोण का निर्माण। डॉ. नगेन्द्र ने इस तथ-ग की ओर भी ध-गान दिला-गा कि “‘कामा-नी के अध-गान-अध-गान की सबसे पहली समस्-गा पाठालोचन की है।” इसका कारण है कि ‘कामा-नी’ के मुद्रणकाल में प्रसाद जी रोग-शै-गा पर थे। वैसे भी उस सम-ग कविता के विराम-चिन्हों को लेकर न कोई नि-गम थे, न उनके प्र-गोग की सावधानी पर ध-गान था। विराम चिन्हों के प्र-गोग पर ध-गान तो आज भी नहीं है, इसलिए अर्थबोध में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। ‘कामा-नी’ के रसास्वादन में एक बाधा अभिधार्थ ज्ञान है। सबसे प्रबल संकट ‘कामा-नी’ के प्रमुख सांस्कृतिक, दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों के प्र-गोग को लेकर है। अधिकांश पारिभाषिक शब्द जैसे ‘काम’ को लेकर तीनों पक्ष ही चुनौती देते हैं। ‘कामा-नी’ शा-गद आधुनिक

हिंदी कविता की अकेली कृति है, जिसमें पारिभाषिक शब्दों का इतना अधिक सार्थक प्रयोग कि-ग-ग है। पारिभाषिक शब्दों का फलक वेद-पुराण से लेकर आधुनिक मनोविज्ञान तक फैला मिलता है। इन पारिभाषिक शब्दों की बहुवचनता को ठीक संदर्भों में समझे बिना 'कामा-नी' का अ-ग-न नहीं कि-ग जा सकता। 'कामा-नी' के सर्ग पर सर्ग इन पारिभाषिक शब्दों से भरे पड़े हैं। 'कामा-नी' को लेकर एक अद्भुत त-ह है कि इस कृति का स्वतंत्र बिंब-विधान लक्षणा-व-जना के शत-शत चमत्कारों से चकित करने वाला है। प्रसाद जैसा स्वच्छन्द प्रकृति का विद्रोही रचनाकार अनेक प्रकार के बिंबों की सृष्टि करता है। अमूर्त को मूर्त करने में उनकी रूपविधा-नी कल्पना का कमाल देखते ही बनता है। कल्पना की प्रचुरता से ही स्वतंत्र बिंब-विधान की आभा निखरी है। डॉ. नगेन्द्र का कथन है कि "कामा-नी में कल्पना का अपूर्व ऐश्वर्य है, फलतः उसमें स्वतंत्र बिंब विधान अ-ग आधुनिक महाकाव्यों की अपेक्षा कहीं अधिक है।" पाठक के लिए 'कामा-नी' में बिंब-विधान का भा-ग एक बड़ी कठिनाई रही है। -हां बिंबों की मणि माला का-ग के महाबिंब का निर्माण करती है। -गे समग्र बिंब ही 'कामा-नी' की कथावस्तु की रूप रचना करते हैं। 'कामा-नी' का कथा-सूत्र सूक्ष्म और तरल है। -ह कथा-सूत्र इतना सूक्ष्म है कि आज तक पाठक-आलोचक की पकड़ में नहीं आ-ग है और भ्रांतिवश इड़ा का विवाह मानव से करा देते हैं। जब प्रमुख घटना पर इतना भ्रम रहा है- तो कथा के अ-ग प्रसंगों का क-ग हाल होगा। -ह अनुमान का विष-ग है। आचा-ग शुक्ल तथा डॉ. नगेन्द्र ने 'कामा-नी' की कथावस्तु की रूपरेखा को स्पष्ट करने का प्र-ग कि-ग है। लेकिन आज भी 'कामा-नी' की कथावस्तु को स्पष्ट करने की आवश-गता बनी हुई है। प्रसाद जी के मन में 'कामा-नी' की कथावस्तु की रूपरेखा को लेकर मंथन था। उन्होंने 'कामा-नी' की कथा के आंतरिक सूत्रों को वेदों-पुराणों-आगमों तक स्पष्ट करने का प्र-गस कि-ग है। साथ ही इस कथा में उनके देशों के पुराख-गान, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, परिवेश में व-गप्त विचारधाराएं और आंदोलनों ने भी इसकी रूप-रचना में बड़ी भूमिका निभाई है। इन आंतरिक कथासूत्रों, विचारधाराओं,

आंदोलनों पर मौलिक ढंग से ग.मा. मुक्तिबोध ने 'कामा-नी: एक पुनर्विचार' में चिंतन-विश्लेषण का प्र-गस कि-ग है। -ह सब होते हुए भी 'कामा-नी' के कथासूत्रों के अ-ग-न की आवश-गता बनी हुई है।

नई कविता के सिद्धांतकार, आलोचक विज-गदेव नारा-ग साही ने अपने निबंध 'लघुमानव के बहाने हिंदी पर एक बहस' में लिखा है- "कामा-नी' के बाद हिंदी कविता का अगला चरण इसी प्रश्न से शुरू होता है जिस 'समरसता' को प्रसाद जी ने अनुभूति से दर्शन में बदल दि-ग। उसे कैसे दर्शन से अनुभूति में बदला जाए। समरसता का दर्शन -ग 'निर्वै-गक्तिक अनुभूति' ? इस प्रश्न को जिस व-गक्ति ने पूछा, उसका नाम था- 'अज्ञे-ग'। आलोचकों में इस बात को लेकर बहुत दिनों तक बहस चलती रही कि पुत्रवती श्रद्धा को मनु क-गों छोड़कर चले जाते हैं और प्रसाद उस अनुभूति का संतोषप्रद 'मनोवैज्ञानिक निरूपण क-गों नहीं कर पाते।" इस तरह के कई असुविधाजनक प्रश्न 'कामा-नी' को लेकर सम-ग-सम-ग पर उठाए जाते रहे हैं। प्रा-ग: आलोचक-पाठक भूल जाते हैं कि "प्रसाद जी मनोवैज्ञानिक उप-गस नहीं लिख रहे हैं, वे एक प्रतीक कथा द्वारा एक दार्शनिक स्थापना कर रहे हैं। अगर वे -ह प्रश्न भी पूछते कि क-गों जब श्रद्धा मनु को तलाश करने जाती है तो अपने पुत्र को छोड़कर ही उस तलाश में जाना उसके लिए आवश-गक हो जाता है और क-गों -हां भी प्रसाद उस अनुभूति का 'संतोषप्रद मनोवैज्ञानिक' निरूपण नहीं करते।' निरूपण करते तो हम प्रसाद के मानस को ज-गदा गहराई से समझ पाते। इस जिज्ञासा के भीतर बैठकर हमें -ह जानना-समझना होगा कि 'प्रसाद एक ऐसे कवि हैं जिनके मानस को बिना गहराई के समझा नहीं जा सकता। उनके लिए सारा प्रश्न अनुभूति और दर्शन के संबंध का है। 'कामा-नी' वेद नहीं, वेद का निरुक्त है, एलेगरी है। -ह संकेत तो प्रसाद ने 'कामा-नी' की भूमिका में ही दि-ग है। एक गंभीर दार्शनिक मानस समस्त सृष्टि को देख रहा है। उस सारी सृष्टि में -ही तो पहेली है : 'अपराजे-ग संकल्प' के भीतर 'अपराजे-ग विवशता' की तरह वह श्रद्धा पुत्र कहां से आ ग-ग ? -ही तो रिक्तता है, अंधकार है, अंधकार की अनुभूति कैसी ? क-ग अंधकार भी 'स-ग का

मूल चारुत्व' हो सकता है जिसे संकल्पात्मक अनुभूति से पकड़ा जा-। रवींद्रनाथ की ही तरह प्रसाद की आत्मा अंधकार को सामने से नहीं भेदती, वह दर्शन द्वारा उसकी परिक्रमा कर सकती है। लेकिन इस परिक्रमा के बाद प्रसाद इतना तो देख ही रहे हैं कि आगे की कहानी मनु की नहीं, श्रद्धा-मनु के उस पुत्र की कहानी है जो इड़ा द्वारा शिक्षित होता है और सारस्वत प्रदेश में लौट जाता है- 'पराजित पिता का दार्शनिक पुत्र।' प्रसाद जी अखंड चेतना के दार्शनिक कवि हैं। उनका चिंतन खंड-खंड होकर अखंड होने की क्षमता रखता है। अज्ञे-। जी मानते रहे हैं कि चिन्तन प्रसाद ने अधिक कि-। है। शब्द का सूक्ष्म ज्ञान पन्त जी हो अधिक है का-। निराला का श्रेष्ठ है।

'कामा-।नी' के का-। रूप का प्रश्न बार-बार उठता रहा है। -।हां कहना होगा कि 'कामा-।नी' को परंपरागत महाका-। के लक्षणों की कसौटी पर नहीं कस सकते। ऐसा करना प्रसाद की स्वच्छंदताधर्मी प्रतिभा के साथ अ-।-। होगा। आलोचकों ने जीवन-स्थिति-।ों की विविधता का अभाव होने के कारण 'कामा-।नी' को महाका-। कहने में संकोच कि-। है। ऐसे आलोचक भूलते हैं कि परंपरागत महाका-। की रूढ़ि-।ों को ढोना प्रसाद के 'कवि स्वभाव' के विपरीत था। कविता, कहानी, उप-।स, निबंध आदि कुछ भी हो वे परंपरा में कुछ-न-कुछ न-। जोड़ते हैं। -।ही प्रसाद की परंपरा के भीतर से फूटती आधुनिकता है। प्रश्न -।ह भी उठा-। ग-। है -।दि 'कामा-।नी' मानव स-।ता की विकास चेतना का महाका-। है तो रूपक के साथ, फैंटेसी के साथ इसकी संगति कैसे बैठती है? रूपक की प्रवृत्ति आ-।ंतरिक -।ात्रा में रमती है और महाका-। प्रवृत्ति से जीवन के बहिरंग में। दोनों में संगति बिठा पाना बड़े खतरे का काम है। फिर 'कामा-।नी' प्रगीतपरक महाका-। है और का-।शास्त्र की शास्त्री-। नि-।मावली में प्रगीत का प्रदर्श एक दोष है। -।ह भौतिक-ऐहिक जीवन का महाका-। नहीं है, स-।ता समीक्षा से निर्मित मानव चेतना का प्रबंध का-। है-महाका-। है। इसकी समग्र कथा आंतरिक -।ात्रा का दार्शनिक विस्तार है। आधुनिक मानव के जीवन में जो संघर्ष, तनाव, कुंठा, विषमता, द्वंद्व तथा विसंगति-। हैं- 'कामा-।नी' का महाका-।

उसी प्रवृत्ति का न-। बिंब है। डॉ. नगेंद्र ने लांजाइनस के उदात्त तत्व को लेकर उदात्तता के 'कामा-।नी' में पांच स्रोत माने हैं-उदात्त कथानक, उदात्त का-।, उदात्त चरित्र, उदात्त भाव तथा उदात्त शैली। अर्थात् औदा-। ही महाका-। का नए लक्षणों से प्राण है। "कामा-।नी मानव चेतना के विकास का महाका-। है -। मानव स-।ता के विकास का विशद रूपक है; इसीलिए रूपक तत्व, जो सामा-।तः महाका-। में बाधक होता है -।हां साधक बनकर आ-। है और इसीलिए प्रगीत तत्व भी -।हां बाधक न होकर साधक ही हुआ है।"

'कामा-।नी' का अंगीरस कम विवाद का विष-। नहीं रहा है। हिंदी आलोचना ने इस प्रश्न के शास्त्री-। उत्तर दिए हैं, किंतु समस्-। इससे हल नहीं हो सकी है। डॉ. नगेन्द्र जैसे रसवादी आलोचक का विचार है कि "कामा-।नी का अंगीरस शैवागम के अंतर्गत आनंद संप्रदा-। के अनु-।-।ी रसवादि-।ों द्वारा प्रतिपादित शान्तरस पर आत्मरस -। आनंदरस है, जो पूर्वाद्ध में शृंगार और उत्तराद्ध में शान्त की सीमाओं का स्पर्श करता है।" का-।ास्वादन की अंतिम अवस्था में प्रश्न उठता है कि 'कामा-।नी' का उद्देश-। क-। है? सरल उत्तर दि-। जा सकता है कि समकालीनता तथा सार्वभौतिक समस्-।ओं के समाधान की शक्ति। 'कामा-।नी' स-।ाग्रह -।ुग की उपज है। इस -।ुग में अनेक विचार-क्रांति-।ां और नाना प्रकार के बौद्धिक द्वंद्व मानव समाज को घेरकर खड़े थे। इस -।ुग के दो बड़े भा-।कार थे-गांधी और रवीन्द्रनाथ। -।ुग में आ-।ात्मिक-नैतिक शक्तिधारा का विस्फोट हो रहा था और मार्क्सवाद-गांधीवाद, पूंजीवाद, उपनिवेशवाद, साम्राज-।वाद की परस्पर टकराहट भी कम नहीं थी। 'कामा-।नी' की दार्शनिक, वैज्ञानिक पृष्ठभूमि में विकासवाद, सापेक्षवाद, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद आदि तथा वैदिक कर्मवाद, औपनिषदिक एवं शैव आनंदवाद, बौद्ध शून-।वाद आदि का -।ोगदान भी कम नहीं है। इन सूत्रों में मौजूद आनंदवाद के मूल सूत्र को गहकर 'कामा-।नी' के विचार पक्ष की समस्-। को सुलझा-। जा सकता है।

इस उत्तर-आधुनिक सम-। में 'कामा-।नी' की सबसे विकट और जटिल समस्-। है- 'कामा-।नी' के नवीन पाठ-विमर्श की। नवीन विमर्श -।ा व-।ाख-। से 'कामा-।नी'

का न-आ अर्थ-अनुसंधान और मूल-आ-दृष्टि तथा बिंब-प्रतीक के साथ 'कामा-नी' के अभिव्यंजना शिल्प पर दृष्टि को केंद्रित करना होगा। पुराने आलोचक 'कामा-नी' के प्रतिपाद-आ, जीवन-दर्शन, काव्य-रूप, कथा-विन्यास और शैली-शिल्प को लेकर प्रा-आ: मतिभ्रम का शिकार रहे हैं। जबकि 'कामा-नी' की आधुनिक हिंदी-साहित्य-आ में महत्वपूर्ण स्थिति रही है और उसे हिंदी का गौरव ग्रंथ सर्वमान्य-आ रूप में स्वीकार कि-आ जाता रहा है। हिंदी की न-नी कविता तथा समकालीन कविता के काल में 'कामा-नी' का गौरव अनुदिन बढ़ रहा है। इसे आधुनिक हिंदी कविता की सर्वोच्च उपलब्धि माना जा रहा है। -आह उपलब्धि संदेह के घेरे से दूर पड़ जाती है जब आलोचक डॉ. नगेंद्र 'कामा-नी' के महाकाव्य-त्व पर विचार करते हैं। उनका कथन है कि "कामा-नी" के शिल्प विधान में निश्च-आ ही अनेक छिद्र रह गए हैं-उसका वास्तुशिल्प अपनी पूर्णता को नहीं पहुंच सका। उसकी आधारभूत प्रकल्पना में जो अखंडता है-उसका प्रतिफलन वस्तु विन्यास में नहीं हो पा-आ-अंगों की समन्विति कई जगह टूट ग-गी है-अभिव्यंजा में अनेक त्रुटि-आं रह ग-गी हैं जो व्याकरण और काव्यशास्त्र की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। कुछ बिंब अधूरे रह गए हैं-अलंकार छिन्न-भिन्न हो गए हैं, शब्दों के फूलों की जाली में पंत के कोमल स्पर्श की साज-संवार नहीं है, कहानी में मैथिलीशरण गुप्त की प्रबंध-कला की गठन का प्रवाह नहीं है-आदि आदि।" इस तरह आलोचक की दृष्टि में 'कामा-नी' हिंदी साहित्य-आ की सर्वाधिक विवादास्पद और विवादों के रहते हुए कदाचित्त सबसे महान उपलब्धि है। इस महान उपलब्धि पर देश-विदेश के महाकाव्य-आ के लक्षणों को आलोचकों ने लागू नहीं कि-आ। वे देशकाल निरपेक्ष दृष्टि लेकर चले हैं। 'कामा-नी' का क्षेत्र ब्रह्मांड नहीं है-मानव चेतना है-जिसके भीतर घटनाचक्र घूमता है और इन घटना चक्रों में महाकाव्य-आत्मक औदात्त-आ है। घटना की सघनता और विस्तार को 'कामा-नी' के प्रथमसर्ग-प्रल-आ का वर्णन, देव-दंभ में पा-आ जा सकता है। -आह विस्तार आगे बढ़कर मानवता के संपूर्ण विकास की उदात्त गाथा बन जाता है। 'कामा-नी' में इच्छा, क्रि-आ, ज्ञान के सामंजस्य-आ द्वारा समरसता -आ आनंद पर बल है। कवि ने माना है कि

इच्छा-क्रि-आ ज्ञान की विशृंखलता जीवन की महान त्रासद स्थिति है। प्रसाद जी मानव चेतना के सहज विकास को प्रस्तुत करने के कारण ही धीरोदात्त ना-आक के भव-आजाल में नहीं पड़े हैं। मनु सहज मानव चेतना के प्रतीक हैं। श्रद्धा का चरित्र उज्ज्वल है लेकिन ठहरा हुआ है। इड़ा का बुद्धिवाद अपनी प्रतीकात्मकता में गतिशील है। अभिव्यंजना में लक्षणा-व्यंजना के अद्भुत चमत्कार हैं और बिंब-योजना की समृद्धि भावक को तृप्ति देने वाली है। चित्र-भाषा, प्रतीक-भाषा ने काव्य-आत्मक भाषा का वैभव बढ़ा-आ है और इतिवृत्त शैली का कहीं भी स्पर्श तक नहीं है। पाठक के साधारणीकरण के लिए -आहां रूपक की कला कमल सी खिली हुई है। शैवाद्वैत के दर्शन ने आत्मरस का -आ आनंद रस का मधुर विस्तार कि-आ है। -आहां साधारणीकरण द्वारा आत्म चैतन्य-आ और आत्मविश्रान्तिम-गी रसचेतना है। प्रसाद जी के शब्द हैं-"चेतनता एक विलसती आनंद अखंड घना था।"

प्रश्न उठता है कि क्या 'कामा-नी' रूपक -आ एलीगरी है? प्रसाद जी ने 'कामा-नी' के 'आमुख' में कहा है कि "आ-आ साहित्य-आ में मानवों के आदिपुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराण और इतिहासों में बिखरा हुआ मिलता है। इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष मानना ही उचित है। -आदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सह-योग से मानवता का विकास रूपक है तो बड़ा भावम-आ एवं श्लाघ-आ है। -आह मनुष्म-आता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।" फिर -आह कहा कि "आह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो ग-आ है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत-आदि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करें, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृद-आ और मस्तिष्क का संबंध श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।" इन सभी आधारों को लेकर ही प्रसाद जी ने 'कामा-नी' की रचना की है। इस कथन का ध्वन्यर्थ है कि 'कामा-नी' की रचना का मूलाधार ऐतिहासिक है और इसमें रूपक की संभावनाएं मौजूद हैं। घटनाओं-चरित्रों, स्थानों के श्लेष-गर्भित गहरे अर्थ इसके रूपक काव्य होने का प्रमाण देते हैं। पूरी कथा का प्रस्तुत पक्ष



ऐतिहासिक-पौराणिक है और अप्रस्तुत पक्ष दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक। मनोम-आ कोश से लेकर आनंदम-आ कोश तक की -आत्रा में मनु, श्रद्धा एवं इड़ा के विकास पक्ष का विधान है। मनु मननशील मन, -श्रद्धा हृद-आ तथा इड़ा बुद्धि का प्रतीक। और मानव का नामकरण संस्कार तक नहीं है-मनु और श्रद्धा का पुत्र मानव नवमानव का प्रतीक। असुर-पुरोहित, आकुलि-किरात आसुरी वृत्ति-ओं के प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त देव इंद्रि-ओं के प्रतीक, श्रद्धा का पशु-आधुनिक अर्थ में अहिंसा का प्रतीक, वृषभ धर्म का प्रतीक और सोमलता भोग का प्रतीक। इसके साथ चार प्रतीक और हैं - जलप्लावन, त्रिलोक, मानसरोवर तथा कैलाश। जलप्लावन प्राचीन जल प्रल-आ की घटना-स्मृति है। त्रिलोक में प्राचीन त्रिपुरदाह की स्मृति है-तीन लोक हैं- भावलोक, कर्मलोक, ज्ञानलोक। तीनों इच्छा-क्रि-आ, ज्ञान वृत्ति-ओं के प्रतीक हैं। मानसरोवर मनोरम सर्पण हैं-मानसिक शांति का प्रतीक तथा कैलाश पर्वत आनंदम-आ कोश का प्रतीक है। 'कामा-आनी' मनोम-आ कोश से लेकर आनंदम-आ कोश तक की साधना है। इस तरह मूलार्थ में 'कामा-आनी' ऐतिहासिक महाकाव्य है और संकेत रूप में मनोवैज्ञानिक रूपक कथा।

आधुनिक जीवन विषमताओं, संघर्षों, विडम्बनाओं से आक्रांत है। मानव के इच्छा-क्रि-आ-ज्ञान का पुल अपना सामंजस्य खो बैठा है-वह अधूरा-टूटा-बेचैन मानव है। मनु इसी अर्थ में सुखवादी, भौतिकवादी, पूंजीवादी, व्यक्तिवाद के प्रतीक हैं, जिसके श्रद्धा विहीन होने पर विडम्बनाओं का अंत नहीं है। इड़ा विज्ञान के माध-आम से जीवन में सुख पाने की असहज ज्ञान दशा है। आज के पूंजीवाद, व्यक्तिवाद, भौतिकवाद, विज्ञानवाद तथा पश्चिमवाद की नकल से पीड़ित -गुग की शांति साम्यवाद-समाजवाद में न होकर मानववाद, मानवतावाद-गांधीवाद में है। आधुनिक मनोविश्लेषणशास्त्र मानव को 'मैं' से निकलकर 'हम' हो जाने की बात करता है। -आही उदात्त भाव का मानसिक परिष्कार है-मन की समरसता है। -आही आज के भटके मानव की जीवन समस्या का समाधान है। अर्थात् व्यक्तिवाद-अहंवाद, पूंजीवाद से मानवता का विकास नहीं हो सकता। मानव का विकास सब में मिलकर, सबका हो

जाने पर ही हो सकता है। प्रसाद जी 'आई' तथा 'अदर' की समस्या से निरंतर 'कामा-आनी' में जूझते रहे हैं। 'कामा-आनी' की संपूर्ण कथा का केंद्र है-श्रद्धा। जिसकी प्रेरणा का संदेह है-'कर्म का भोग, भोग का कर्म। -आही जड़ का चेतन आनंद।' भारती-आ चिन्तन जीवन के पुरुषार्थ चतुष्ट-आ के मूल में श्रद्धा के अखंड महत्त्व को स्वीकृति देता है। इसी में पांचवां पुरुषार्थ 'प्रेम' का पावनताजनित रूप खिलता है। इस प्रेम की लोकमंगलम-आ प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है-'प्रेमा पुमर्थो महान्।' -आह प्रेम, राग (लिबिडो) से अधिक उदात्त और व्यापक स्थिति है। गांधी जी की अहिंसा का इसी प्रेम में स्था-आनी निवास है। -आही शैवाद्वैत में प्रतिपादित अहम् और इदम् की अभेद स्थिति है। -आही परम तत्त्व है, -आही परम शिव है जो अपनी इच्छा से विश्व का लीलाम-आ विस्तार करता है। इसी को प्रसाद ने 'काम मंगल से मंडित श्रे-आ सर्ग इच्छा का है परिणाम' कहा है।

-आह सच बात है कि 'कामा-आनी' में शैवाद्वैत दर्शन के अलावा बौद्ध दर्शन के क्षणवाद, दुःखवाद, शून्यवाद और मध्य-आगुनी नि-आतिवाद की गहरी अनुगूंजें हैं। वर्तमान की चिंतनधाराओं के अनेक सिद्धांत विकासवाद, परिवर्तनवाद, परमाणुवाद, शक्तिस्पर्धावाद, समाजवाद, बुद्धिवाद, ऐंद्रि-आ भोगवाद, व्यक्तिवाद आदि अनेक 'कामा-आनी' की चिंतनधाराओं में अंतर्भाव-आप्त है। प्रसाद जी आत्मवादी शैव थे और जीवन के आनंदवाद में उनकी अडिग आस्था थी। इसी आस्था ने तमाम भाव लहरि-ओं के साथ 'कामा-आनी' में प्रतिपाद-आ का रूप ग्रहण कि-आ है। प्रसाद जी बौद्धों, जैनों के अनात्मवाद से दूर आत्मवाद का हाथ थामे रहे हैं। प्रसाद जी ने काव्य की परिभाषा ही इन शब्दों की है कि "काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है जिसका संबंध विश्लेषण अथवा विज्ञान से नहीं। वह एक श्रे-आम-आ प्रे-आ ज्ञानधारा है।" 'काव्य और कला तथा अन्-आ निबंध' शीर्षक पुस्तक में दी गई काव्य की -आह परिभाषा निर्विवाद तो नहीं है लेकिन 'संकल्पात्मक अनुभूति' काव्य को माननेवाली धारा भारत के आ-आओं के कर्मकांड और -आज्ञ-आदर्शन की स्मृति को अवश-आ ताजा कर देती है। जो आ-आ इस चिंतन से बाहर रहे वे ब्रात-आ कहे जाने लगे। वैदिक धर्म की

प्रधानधारा में आत्मवाद था और -ाज्ञिक क्रि-ाओं का उल्लास। ब्रा-ों के लिए चैत-पूजा के कारण उसमें स्थान नहीं था। -हां कहना होगा कि प्रसाद जी की संपूर्ण निष्ठा अभेदम-ी आस्तिक भावना के आनंद में रही है। प्रसाद जी की इसी निष्ठा के कारण वामपंथी चिंतन के आलोचक उन्हें प्रतिगामी सोच का सर्जक कहते हैं।

सं-ोग ऐसा रहा कि ज-ाशंकर प्रसाद के साथ 'कामा-नी' के तीनों बड़े आलोचक आचा-ा रामचंद्र शुक्ल, आचा-ा नन्ददुलारे वाजपे-ी तथा आचा-ा नगेंद्र रस की प्राण-प्रतिष्ठा करते रहे। रस प्रतिमान से ही तीनों ने 'कामा-नी' का विश्लेषण-मूल्-ांकन कि-ा। 'कामा-नी' को लेकर इस मूल्-ांकन दृष्टि से मार्क्सवादी कवि-आलोचक ग.मा. मुक्तिबोध का माथा गरम हो ग-ा। उन्होंने कहा-“इसके विपरीत हुआ -ह कि प्रसाद जी की 'कामा-नी' साहित्-ा के रसवादी-छा-ावादी पुराणपंथि-ों के हाथ में नवीन प्रगति शक्ति-ों के विरुद्ध एक शस्त्र बन ग-ी। उन्होंने मनु के व-क्तिवाद के विनाशकारी रूप का उद्घाटन नहीं कि-ा, प्रसाद जी की सभ-ता-समीक्षा की बात को ढांक दि-ा। किंतु -ही दो बातें हैं जिनके कारण 'कामा-नी' अत्-ांत महत्त्वपूर्ण हो ग-ी हैं। भाववादी आलोचकों ने प्रसाद जी से भी आगे बढ़कर कामा-नी का रहस्-वादी मनोवैज्ञानिक अर्थ लगा-ा और उसके उप-ोगी तत्त्वों को प्रच्छन्न कर दि-ा। उन्होंने कामा-नी के संबंध में हर तरह की ऊंचे किस्म की गलतफहमि-ां भी फैला-ीं। वे 'कामा-नी' की मूल समस्-ा को नहीं समझते।” 'कामा-नी' को लेकर मुक्तिबोध का -ह दृढ़ विचार रहा है कि “कामा-नी का अध-ा-ान मात्र मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूरा नहीं हो सकता। प्रसाद जी ऐसे कलाकार थे जो -ुग की प्रवृत्ति-ों तथा विचारधाराओं को इस प्रकार साहित्-ा में ढाल देते थे कि वे संपूर्ण रूप से प्रसाद-प्रणीत ही प्रतीत होती हैं।” इस विचार को और खोलते हुए कहा कि “-द्यपि हम -ह नहीं कह सकते कि उन्होंने -ुग प्रवृत्ति-ों को शुद्ध वैज्ञानिक आकलन-विवेचन के फलस्वरूप ग्रहण कि-ा है, किंतु -ह तो कहा ही जा सकता है कि एक विशेष कालखंड के भीतर उपस्थित व-ापक वास्तविकता को उन्होंने एक विशाल कल्पना चित्र द्वारा प्रस्तुत कि-ा है। चूंकि प्रसाद जी अपने

कालखंड की विशाल वास्तविकता के प्रति कोई -ाथार्थवादी विशाल वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्राप्त न कर सके। इसलिए उस वास्तविकता की चित्रात्मक व-ाख-ा भी वैज्ञानिक न हो पा-ी, साथ ही उसने प्रसाद जी के दृष्टि-क्षेत्र को भी सीमित कर दि-ा। इसका फल -ह हुआ कि हम प्रसाद जी को विश्व के उन महान उन्ना-ाक कलाकारों के बीच नहीं खड़ा कर सकते, जिन्होंने मानवता के उद्धार के रास्ते पर जनता को अपने साहित्-ा का संबल प्रदान कि-ा। हम प्रसाद जी को राबेलाह, रोम्-ारोलां, गोर्की, तालस्ता-ा, बाल्जाक आदि साहित्-ाकारों की श्रेणि-ों में इसलिए नहीं रख सकते कि 'कामा-नी' हमें मनुष्य-ता के वास्तविक उद्धार-लक्ष्-ों की ओर पहुंचने का न मार्ग दिखलाती है, न सामाजिक वास्तविकताओं का इस प्रकार विश्लेषण ही करती है जिससे हम उन उद्धार लक्ष्-ों की ओर ले जाने वाले मार्गों की रूपरेखा ही नि-ात कर सकें और उसकी ओर अग्रसर हो सकें।” इसी विचार को बढ़ाकर कहा कि “अगर प्रसाद जी चाहते तो वे कामा-नी को -ह बल प्रदान कर सकते थे, किन्तु वे वास्तविकताओं से अधिक अपनी अमूर्त रहस्-वादी भावधारा के दर्शन में बिधे रहे। -ही 'कामा-नी' की सबसे बड़ी ट्रेजेडी है।”

'तारसप्तक' 1943 के प्रकाशन के समानान्तर ही मुक्तिबोध की आलोचना-क्षमता का प्रखरता से विस्तार हुआ। उनकी कृति केंद्रित आलोचना 'कामा-नी : एक पुनर्विचार' का प्रकाशन 1961 में हुआ। किंतु उनके दो लेख 'कामा-नी : कुछ नए विचार' क्रमशः 'हंस' पत्रिका के नवंबर 1945 और फरवरी 1946 के अंकों में पहले ही प्रकाशित हो चुके थे। इन लेखों में 'कामा-नी' पर नए विचार, पुनर्विचार के अंतःसूत्र पा-े जा सकते हैं। उन्होंने 'कामा-नी' को लेकर फैला-ी गई गलतफहमि-ों को दूर करने का बीड़ा उठा-ा और उनका मतभेद रामविलास शर्मा जैसे धाकड़ मार्क्सवादी आलोचक से भी हुआ। साहित्-ा के अखाड़े में लंगोट बांधकर कूद पड़ने का -ह साहस बड़ी बात है। उन्होंने साहस के साथ कहा कि “प्रसाद जी ने 'कामा-नी' की विशाल फैन्टेसी का निर्माण कि-ा। इस फैन्टेसी के रूपाकार में सामन्तवाद के ध्वंस से लगातार, न-ो व-क्तिवाद का जन्म और पूंजीवाद के रुग्ण

बालक के बाधाग्रस्त विकास की अवस्थाओं और चिन्ताओं, विषमताओं और विभेदों, तथा पूंजीवाद की समस्त हासग्रस्त अवस्था (तक) को प्रतीकात्मक पद्धति से गूँथ दि-गा ग-गा है।” मुक्तिबोध को -ह पक्का विश्वास हो ग-गा था कि ‘कामा-नी’ हासग्रस्त विश्वपूंजीवाद के भीतर भारती-आ औपनिवेशिक रुग्ण पूंजीवाद के सामन्ती प्रभाव छा-गाग्रस्त उग्र ऋ-क्तिवाद का ‘एक आत्म चरित्र’ है। ‘कामा-नी’ “-ही कारण है कि अपने -गुग का अवैज्ञानिक, अपरिष्कृत, असंस्कृत प्रतिबिम्ब है। वह सुपरिष्कृत प्रतिबिम्ब होता, तो तत्कालीन समस्-गाओं का -तार्थ हल भी प्रस्तुत कि-गा जाता। उसमें जनता का पक्ष भी ऊंचा उठता तथा अधिक मानवी-आ जनतांत्रिक धरातल पर कथा की समाप्ति होती। मनु अपने किए पर वास्तविक पश्चाताप करते, श्रद्धा रहस्-वादिनी न बनती। इड़ा के सभ-ता प्र-गास को विकसित कि-गा जाता। सुखी, सम्पन्न श्रमशील, देशभक्त नवीन मानव को प्र-क्ष कि-गा जाता। देश की असंख-आ गरीब जनता के सुख-स्वप्नों को साकार कि-गा जाता और श्रद्धा-मनु, सं-गुक्त रूप से, प्रेम और नवीन जीवन-दृष्टि के प्रतीक बनकर पुण-आ-सृष्टि का निर्माण करते।” ‘कामा-नी’ में -ह सब न पाकर मुक्तिबोध को गहरी निराशा हुई है। इसलिए भी निराशा हुई कि उन्होंने अपने प्रतिमान ‘कामा-नी’ में खोजने चाहे। जबकि आलोचक के लिए कवि से ऐसी अपेक्षाएं करना अनुचित है। ‘कामा-नी: एक पुनर्विचार’ शीर्षक मुक्तिबोध की पहली आलोचनात्मक कृति इस ग्रंथ से पहले संक्षिप्त रूप में ‘कामा-नी : एक अध-आन’ शीर्षक से छपी थी। ‘कामा-नी’ के संबंध में कुछ लेख ‘हंस’ तथा ‘आलोचना’ में प्रकाशित हुए। पुस्तकाकार रूप देने में पुराने मतों में संशोधन-संपादन कि-गा ग-गा। ऋ-ग-कार हरिशंकर परसाई ने खेद खदेड़कर मुक्तिबोध से ‘कामा-नी’ पर -ह पुस्तक लिखवा ली। मुक्तिबोध ने कहा है कि ‘कामा-नी’ का जो विश्लेषण मैंने कि-गा है, वह एक ओर प्रसाद जी का -गुग तो दूसरी ओर उनका ऋ-क्तित्व- इन दोनों की परस्पर क्रि-गा-प्रतिक्रि-गाओं के संघनित -गुग को ध-गान में रखकर ही। ‘कामा-नी’ उस अर्थ में कथाकाव्य नहीं है जिस अर्थ में ‘साकेत’ है। ‘कामा-नी’ की कथा एक फैन्टेसी है।

जिस प्रकार एक फैन्टेसी में मन की निगूढ़ वृत्ति-गों का, अनुभूत जीवन समस्-गाओं का, इच्छित विश्वासों और इच्छित जीवन स्थिति-गों का प्रक्षेप होता है-उसी प्रकार ‘कामा-नी’ में भी हुआ है।

“कामा-नीकार के हृद-आ में संचित (किन्हीं विशेष बातों के संबंध में) जो संवेदनात्मक प्रतिक्रि-गाएं हैं, जो तीव्र दंश है, जो निगूढ़ आघात है, उन सब में एक जीवन-आलोचनात्मक आख-गान के सूत्र हैं। -ो सब प्रतिक्रि-गाएं, -ो सब दंश और आघात, जीवन-आलोचनात्मक वेदना से -गुक्त होकर उस फैन्टेसी में प्रकट हुए हैं जिसे हम ‘कामा-नी’ कहते हैं। प्रसाद जी के अन्तःकरण में दुःखती ग्रंथि है वह ग्रंथि संपूर्ण ज्ञान और आवेग के साथ उनके उलझावों को लेकर ‘कामा-नी’ में प्रकट हुई है। मनु उस जीवन समस्-गा के प्रतीक हैं जो समस्-गा प्रसाद जी की अपनी जीवन समस्-गा रही है। इस जीवन समस्-गा से प्रसाद जी निरंतर जूझते रहे और उन्होंने इन जीवन समस्-गाओं को मानव सभ-ता संबंधी प्रश्नों से जोड़ दि-गा-उन्हें मानव आदर्शों और मानव मूल-गों के साथ नत्थी कर दि-गा और उस समस्-गा का दार्शनिक निदान शैवाद्वैत दर्शन से प्रस्तुत कि-गा। आज ‘कामा-नी’ की मनोवैज्ञानिक ऋाख-गा का अर्थ नहीं रहा। आलोचक का आज कर्तव्य है कि वह ‘कामा-नी’ की नए परिवेश तथा जीवन-समस्-गा से जोड़कर विचार करे। कवि-दृष्टि की, तथा उस जीवन-समस्-गा के कवि कृत निदान की समीक्षा करे। मुक्तिबोध ने ‘कामा-नी’ की समीक्षा में -ही प्र-ात्न कि-गा है। -ह मानकर -ह प्र-ात्न कि-गा कि कलाकृति स्वानुभूत जीवन की कल्पना द्वारा पुनर्रचना है। फैन्टेसी के अंतर्गत भाव पक्ष प्रधान तथा विभाव-पक्ष गौण -गा प्रच्छन्न होता है। -ह भाव-पक्ष कल्पना को उत्तेजित कर बिंबों की रचना करता है। -ह का-आ अण्डर ग्राउंड विभाव पक्ष के बिना संभव नहीं हो सकता। फिर कलाकृति तो विधा-आक कल्पना से जीवन की पुनर्रचना है। -ह पुनर्रचित जीवन जिए-भोगे जीवन से सारतः एक होता हुआ भी स्वरूपतः भिन्न होता है। उसमें सारभूत ‘विशिष्ट’ अन्ततः ‘सामान-आ’ बन जाता है। कला के शिल्प और कला की आत्मा में भी अंतर आ जाता है। फैन्टेसी तो एक झीना परदा है जिसमें जीवनतथ-आ झांक-झांक उठते

हैं—ह ताना-बाना कल्पना बिबों से बना होता है। हम पहले फैन्टेसी में गुंथी क्रि-आ-प्रतिक्रि-आओं को जानें फिर क्रि-आ-प्रक्रि-आओं के सूत्र से प्रच्छन्न जीवन तथ-ओं का विश्लेषण करें। उदाहरण के लिए 'कामा-नी' में 'तुम हो कौन और मैं क-आ हूं इसमें क-आ है धरा सुनो' जैसे कथनों का ढांचा अध-आत्मवादी-रहस्-आवादी है। इसीलिए फैन्टेसी का मूल ढांचा ही अध-आत्मवादी-रहस्-आवादी है। और वास्तविकता प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत की गई है। 'कामा-नी' जीवन की विस्तृत वास्तविकता को प्रतीकों से प्रस्तुत करने वाली कलाकृति है। -आं श्रद्धा दिव-आ रूप में आ-नी है तो उसका 'मैं लोक अग्नि में तप नितान्त' कहना अखरता नहीं है। जबकि 'आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त' कथन असंगत है—श्रद्धा कहीं भी आहुति नहीं देती। वह फैन्टेसी ही क-आ जिसमें असंगति-आं न हों। 'कामा-नी' में कथावस्तु, पात्र इत्-आदि गौण रहकर कवि की भाव-दृष्टि ही प्रमुखता पाती है—लेखक का भाववादी आदर्शवादी 'स्व' छा-आ हुआ है। साथ ही प्रसाद जी को जो इतिहास के चिंतन ने जो दृष्टि प्रदान की जीवन जगत की, वह राष्ट्रवादी-सांस्कृतिक अध-आत्थान से प्रेरित थी। किंतु उन्होंने उस राष्ट्रवाद की आर्थिक-सामाजिक पृष्ठभूमि पर भी लगातार चिंतन कि-आ। इस संबंध में मुक्तिबोध ने रवीन्द्रनाथ की पुस्तक 'राष्ट्रवाद' की ओर पाठक को ध-आन देने के लिए कहा है। -आ भी कहा कि प्रसाद जी ने अतीत की भावुक गौरव छा-आओं से ग्रस्त वेदोपनिषदिक आर्ष वातावरण से अनुप्राणित, समाजादर्श से प्रेरित होकर अपनी विश्व दृष्टि का निर्माण कि-आ था। -आही विश्व दृष्टि 'कामा-नी' में प्रकट हुई है। 'कामा-नी' के इस विश्व दृष्टिपरक अध-आ-आन में मुक्तिबोध बीस वर्ष तक मनो-योगपूर्वक जुटे रहे। उन्होंने उन आलोचकों के विचारों से असहमति व-आक्त की जो 'कामा-नी' को वेदकालीन -आग-प्रवृत्ति-ओं से जोड़कर ऐतिहासिक महाकाव-आ मानते हैं और प्रसादकालीन जीवन समस्-आओं से 'कामा-नी' को दूर।

मुक्तिबोध का 'कामा-नी' के मनु को लेकर कथन है कि मनु एक विशेष प्रकार की ऐतिहासिक-सामाजिक भूमि में ही पैदा हो सकता है। वेदकालीन मनु 'कामा-नी' का मनु नहीं है। प्रसाद का मनु उसी वर्ग का मनु है जिस वर्ग के स्व-आं प्रसाद जी हैं। उसे मनन मात्र का, मन मात्र

का, मानव मात्र का प्रतिनिधि कहना सरासर गलत है। मनु एक 'टाइप' है, उस वर्ग का 'टाइप' जिसकी शासन सत्ता तथा ऐश्व-आ छिन ग-आ हो। उस वर्ग की समस्त प्रवृत्ति-आं मनु में हैं।' इस दृष्टि से मनु पराज-आ का पुत्र है—उच्छृंखल, व-आक्तिवादी और आत्मग्रस्त है। उसकी प्रकृति पूंजीवादी प्रकृति है जिसने कभी जनता से एकात्मकता का बहाना भी नहीं कि-आ। मनु आधुनिक पूंजीवादी व-आक्तिवाद का पुत्र न होकर सामन्ती व-आवस्था के शासक वर्गों का पुत्र है। मनु कमजोर प्राणी है उसकी कमजोरी पर श्रद्धा को द-आ आती है। इड़ा उसे बर्दाश्त कर लेती है। -आह प्रसाद जी की काव-आ स्वभाव सिद्ध भावुकता है। अजीब स्थिति है श्रद्धा इड़ा दोनों अ-आ-आ सहकर भी मनु से घृणा नहीं करती। इड़ा के स्त्रीत्व का तकाजा था कि वह मनु को क्षमा न करे। किन्तु प्रसाद जी ने इड़ा के विक्षोभ को उभारा नहीं। “-आ हैं छा-आवादी मूल-आ, जिनकी वकालत श्री नन्ददुलारे वाजपे-आ करते हैं। और प्रसाद की 'कामा-नी' का समर्थन करते हुए स्वर्गी-आ रामचन्द्र शुक्ल की 'रामचरितमानस' के प्रति व-आवहारिक आदर्श लक्ष-आवादी सामाजिक मंगलवादी दृष्टि को स्थूल बतलाते हैं। वे कहते हैं कि रामचन्द्र शुक्ल की जीवन-दृष्टि ऊपरी तथा सतही थी। वे मनु को मानव मात्र का, मन का, मनन का प्रतिनिधि बतलाते हैं।” आचा-आ नन्ददुलारे वाजपे-आ ने 'कामा-नी' की मूल समस्-आ का सामना ही नहीं कि-आ इसीलिए वे “मनु की विलक्षण असंगति-ओं से कन्नी काट जाते हैं।” वे जीवन-जगत् के कर्मक्षेत्र से हटकर आनंदवाद की तन्त्रात्मक पद्धति से स्थापना करना चाहते हैं।

प्रसाद जी का बड़ा अपराध 'कामा-नी' को लेकर -आह भी है कि वे मनु जैसे अक्षमताओं से भरे व-आक्तियों से सहानुभूति रखते हैं। मध-आ-आगीन संतों की व-आपक मानवी-आता प्रसाद जी का आदर्श नहीं था—वे आधुनिक अभिजातवर्गी-आ रहस्-आत्मक अद्वैतवाद के चक्र में पड़े रहे। -आह वही अद्वैतवाद था जिसे विवेकानंद तथा रवीन्द्रनाथ 'गीतांजलि' से काव-आत्मकता प्रदान करते रहे। जाहिर है कि प्रसाद जी जीवन की वास्तविकताओं के स्थान पर पला-आन की ढाल बनते रहे। उनका आनंदवाद विषमताग्रस्त समाज, सभ-आता और व-आक्ति की वर्तमान स्थिति को का-आम रखते हुए



प्रतिक्रिावादी शोषण नीति, राजनीति और समाजनीति को ही नित्ता प्रदान करता रहा। फलतः उनका दर्शन पूंजीवादी ँक्तिवादी दर्शन है। आज कहा जा सकता है कि विश्व के मानवतावादी साहित्ा में 'कामाानी' उपेक्षणीा कृति ठहरती है। मनु को अपनी रक्षा के उपााों की परवाह कम है-विलास-स्मृतिाों की हुड़क जादा है-जैसे 'भरी वासना सरिता का वह कैसा था मदमत्त प्रवाह।' इस मदमत्त प्रवाह के कारण मनु में गहरी मनुषाता का अभाव है। वह आत्मग्रस्त अहंकारी चरित्र नााक है। इस विलास-सुख ने 'कामाानी' को विलास का स्मृति काा बनाा है। वेदकालीन आखान को प्रसाद जी फैन्टेसी बनाते हैं। इसमें श्रद्धा सत्ाग्रह गुग की भाववादी, आदर्शवादी, रहसवादी, मानवतावादी अनेक मिश्र विचार-प्रवृत्तिाों का प्रतिनिधित्व करती है। और वह देव सभाता (सामंती सभाता) फैन्टेसी का ही एक अंग है। वैभव-विलास, नवाबी और अवध प्रदेश। उत्तर प्रदेश, बंगाल में सामंती तत्त्वों की प्रबलता रही। जबकि महाराष्ट्र में सामंती तत्त्वों से उग्र संघर्ष हुआ। उत्तर प्रदेश, बंगाल में नव पूंजीवाद, राष्ट्रवाद और पाश्चात्ा विचार तगड़े रहे। संस्कारों पर मधवर्ग के सांस्कृतिक-प्राचीन भारतीाता की पकड़ मजबूत रही। वह कहता ही रहा 'नारी तुम केवल श्रद्धा' हो लेकिन उसका शोषण करने में पीछे नहीं रहा। मैथिलीशरण गुप्त ने 'ाशोधरा', सिारामशरण गुप्त ने 'नारी' तथा जैनैन्द्र ने 'कल्ाणी' में पाा कि सामंतवाद के प्रभाव के कारण ही उच्च मधवर्गीा भारतीा संस्कृति आड़े आती रही है। इस डूबकर भरी सभाता में 'सब कुछ थे स्वाात्त विश्व के बल वैभव आनंद अपार'। तो मुक्तिबोध मानते हैं कि देव सभाता वह ह्रासकालीन सामंती सभाता है-ब्रिटिश पूंजीवादी, साम्राजवादी धक्कों से कहिए विश्व पूंजीवाद के भूकम्पों से ध्वस्त हो गी। 'शक्ति रही हां शक्ति, प्रकृति थी पददल में विनम्र विश्रांत।' हां प्रकृति ही प्रलना की प्रतीक है।

छाावाद में देशभक्तिपूर्ण, साम्राजवाद विरोधी गीत गाे जाने लगे। भारतीा जनता का कष्ट साहित्ा में अभिवक्ति पाने लगा। ब्रह्म समाज, आा समाज का सांस्कृतिक उन्मेष इस जागरणसुधार गुग में नए सौंदर्ा के साथ प्रस्फुटित होने लगा। रोमांटिक, ँक्तिवाद इसी

सांस्कृतिक-राष्ट्रवादी उत्थान का प्रतिफलन था। ाह छाावादी भावमगी नारी की ही महिमा है कि वह मनुषा की दुर्गम घाटिाों को पार करने की प्रेरणा देती है। ाह 'कामाानी' की श्रद्धा ही है जो टूटते मनु से कहती है 'मधुरिमा लो अगाध विश्वास'। भारतीा समाज रचना के भीतर राष्ट्रवाद का ाह स्वर खोखला होकर जीवन की नवीन गतिाों से भरा हुआ है। 'काम', 'वासना' तथा 'लज्जा' सर्ग प्रणना जीवन के विकास और ाथार्थ की मार्मिकता को कहते हैं। प्रसाद जी का भाववादआदर्शवाद, ँक्तिवाद 'ाह विश्वकर्म रंगस्थल है' की पुकार लगाता है। प्रणना जीवन का पावनउज्ज्वल रूप अपने संपूर्ण सौंदर्ा के साथ प्रकट हुआ है। डार्विन का जीवस्पर्धा वाला सिद्धांत (सर्वाइवल ऑफ दि फिटिस्ट) संभावनाओं की रंगस्थली बनकर सामने आता है। लेकिन आगे चलकर प्रसाद जी इस सिद्धांत को तगाग देते हैं और समाजवादी समाजरचना से दूर हटकर सामरसवाद की ओर उन्मुख होते हैं। ाह अमूर्त सामरस सिद्धांत ही मुड़कर भाववादआदर्शवाद, पूंजीवाद का पल्ला थाम लेता है।

पूंजीवादी समाज में ँक्ति की स्वाधीनता का सिद्धांत समानता और समाजवाद की स्थापना नहीं कर सकता। 'कामाानी' में श्रद्धा ने 'विजिानी मानवता हो जाा' का नारा तो लगाा लेकिन वह सच्ची मानव मुक्ति से दूर रही। मानवता के विजिानी होने की वास्तविकता से कर्म दृष्टि दूर रही। मनुसमस्या के रूप में प्रसाद जी ने 'अपरिपक्व ँक्तित्व के ँक्तिवाद' को पकड़ा। फलतः इच्छाक्रिा ज्ञान के सामंजसा के प्रश्न आध्ात्मिक प्रश्न बनकर ही रह गए। उनकी वावहारिकता खो गी और प्रश्न रहसवाद की चादर में लिपट कर अमूर्त हो गी। मनु समस्या का रूप है- 'मुझमें ममत्वमना आत्ममोह स्वातंत्रमगी उच्छृंखलता'। साथ ही 'लूसा झुलसाता दौड़ रहा कब मुझसे कोई फूल खिला'। देव सभाता का पुत्र मनु स्वार्थी ँक्तिवादी हैकट्टर पूंजीवादी ँक्तिवादी। उसका 'जीवन विकास वैचिा भरा' इसलिए है कि वह अहंग्रस्त अभिलाषाओं के आगे लाचार है। वह कस्तूरी कुरंग नहीं, भृंग हैभृंग की सारी वासना उसमें है। ाह

‘-ह जलन नहीं सह सकता मैं चाहिए मुझे मेरा ममत्व। इस पंचभूत की रचना में रमण करूं बन एक तत्त्व।’ इस रमण कूलों में वासना धारा प्रबल है। इस दृष्टि से मनु और श्रद्धा का झगड़ा दो ‘टाइप’ का झगड़ा है। मनु के व-क्तिवाद में प्रभुत्व की इच्छा का वेग है ‘किसगहन गुफा से अति अधीर’ का -ही स्वर है। पूंजीवादी राष्ट्रवाद का -ह स्वर भारती- पूंजीवाद तक सीमित न होकर जापान-ब्रिटिश साम्राज्य-वाद तक फैला हुआ है। मुक्तिबोध का कहना है “प्रसाद जी की महत्ता इसी में है कि उन्होंने व-क्तिवाद, राष्ट्रवाद, पूंजीवाद के उपस्थित स्वरूप को ध्यान में रखकर व-क्तिवाद को शासन सत्ता से सम्बद्ध कर दि-ा?”

दरअसल, ‘कामा-नी’ में मनु के व-क्तिवाद की वास्तविकताओं को श्रद्धा-इड़ा के चरित्र विश्लेषण के बिना संभव ही नहीं है। मनु लोभी प्रभुत्वकामी अत्-ाचारी है। मनु की समस्-ा उच्छृंखल अराजक, शोषक, व-क्तिवादी की समस्-ा है। मनु में आत्मालोचन का स्वर है किन्तु कर्मप्रधान प्रेरणा नहीं है। तभी तो ‘मनु तुम श्रद्धा को गए भूल’ की स्थिति आती है। मनु के तीन बड़े अपराध हैं: (1) श्रद्धा का परि-ाग (2) इड़ा घर्षण प्र-ात्न और (3) अपनी ही प्रजा से -ुद्ध। प्रजा से -ुद्ध के बाद मनु मूर्च्छित, इड़ा उदास, श्रद्धा आकट मनु को बचाती सहलाती है-किन्तु मनु में अपने किए पर कोई पश्चात्ताप नहीं है। मनु श्रद्धा के सामने इड़ा और सारस्वत प्रजाजनों को ‘श्वा-ाद से हिंसक अधीर’ कहते हैं। इस स्थिति में भी श्रद्धा मनु की आलोचना नहीं करती। उसकी दृष्टि में ‘वह भोला इतना नहीं छली’ है। श्रद्धा में आदर्शवाद की चरमता है जो ‘कामा-नी’ का उपदेश देती है। प्रसाद जी की विश्व-दृष्टि तथा जीवन दृष्टि श्रद्धा में ही प्रकट हुई है। ‘कामा-नी’ आदिमानव, ऐतिहासिक मानव की कथा न होकर आधुनिक मानव की कथा है और आधुनिक मानव की समस्-ा। -ह कथा फैंटेसी के रूप में फैलती है। ‘कर्म’ तथा ‘ई-ा’ सर्ग में वास्तविकता को कल्पना-चित्रों के पीछे छिपा दि-ा ग-ा है। इसलिए श्रद्धा को बौद्ध करुणावाद से नहीं मापा जा सकता। प्रभु बलि की समस्-ाएं अविस्मरणी-ा हैं। वास्तविकता -ह है कि प्रसाद जी अपने द्वारा उठा-ी गई

समस्-ाओं का कोई समाधान नहीं कर पाते हैं। प्रसाद जी का श्रद्धावाद सामरस्-ा सिद्धांत से दूर पड़ जाता है। -हां कोई प्रमाण नहीं है कि श्रद्धा प्रसन्न होकर लोक-अग्नि में आहुति देती है। इस तरह श्रद्धावाद, व-क्तिवादी, भावादशवाद है। प्रसाद जी बुद्धिवाद विरोधी कृति में रवीन्द्र नाथ जैसे दर्शन को लाते हैं। वे हीगल, मार्क्स को अंगूठा दिखाकर भारती-ा अद्वैत शैवाद्वैतवादी दर्शनों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। हां, उनकी सभ-ाता समीक्षा स्पेंगलर जैसी अवश-ा है। इस स्थिति के कारण ही मुक्तिबोध को प्रसाद जी के मन्तव-ा जन-विरोधी, प्रतिक्रि-ावादी, भाववादी, पूर्वग्रहपूर्ण लगते रहे हैं। हां, ‘कामा-नी’ में प्रसाद जी के अपने जीवनानुभव तथा उनका -ुग बोल रहा है। प्रसाद जी की सभ-ाता समीक्षा के प्रधान तत्त्व हैं- वर्गभेद का विरोध, मेहकशों के वर्ग संघर्ष का तिरस्कार, आतंकवादी नीति-ों की तीव्र भर्त्सना, अमूर्त आदर्शवाद, वर्गहीन संघर्ष, आदर्शवादी रहस्-ावादी विचारधारा, आदर्श-ाथार्थ के बीच अवांछनी-ा खाई।

प्रसाद जी का व-क्तिवाद रीता है, सामंजस्-ा से दूर है, निरर्थक है। -हां हासग्रस्त सभ-ाता की उन्ना-क है-इड़ा। प्रसाद जी की महत्ता इस बात में है कि उन्होंने हासग्रस्त सभ-ाता के प्रश्नों को जोरदार तरीके से उठा-ा। इड़ा बुद्धि का प्रतीक नहीं है-‘वह तो पूंजीवादी समाज की मूल विचारधारा का प्रतीक है।’ इड़ा का चरित्र बुद्धि प्रधान अवश-ा है। वह ज्ञानोन्नति के आधार पर नवीन सभ-ाता खड़ी करती है। अस्तित्व के लिए संघर्ष और -ोग-ातम की विज-ा का सिद्धांत उसमें बोलता है। प्रसाद जी इसे ‘चितिकेंद्रों का संघर्ष’ कहते रहे हैं। -ोग-ातम की विज-ा का सिद्धांत वर्तमान पूंजीवादी-राष्ट्रवादी समाज की गति का भीतरी नि-ाम है। पूंजीवाद लाभ के लिए स्पर्धा-सिद्धांत अपनाता है-जिसमें -ोग-ातम की विज-ा होती है। -ही फासिस्टवादी पूंजीवादी-साम्राज्य-वादी सिद्धांत दृष्टि है। इसी वैचारिक भूमि पर इड़ा खड़ी है। इड़ा के निर्माणात्मक प्रतिभा के बावजूद उसके सिद्धांत प्रतिक्रि-ावादी हैं। मूल बात -ह कि प्रसाद जी ने इड़ा को ‘बुद्धिवाद का प्रतीक मानकर प-ाप्त भ्रमविस्तार कि-ा है।’ पश्चिमी पूंजीवाद ने एकाधिकारी पूंजीवाद का रूप धारण कि-ा और अपना प्रगतिशील रूप

समाप्त कर लि-गा। अपनी घनघोर साम्राज्य-वादी संगीनों से उपनिवेशों का धन लूटा और अल्पांश जनता में वितरित कि-गा। इसी से सर्वशक्तिवाला ब्रिटिश साम्राज्य-वाद के भीतर भारती-आ औपनिवेशिक पूंजीवाद का उद-आ हुआ। विश्व पूंजीवाद के भीतर भारती-आ अर्थतंत्र भी पूंजीवाद हो ग-गा। -आं सामंती ध्वन्सावशेष मौजूद हैं। भारती-आ औद्योगिक पूंजीवाद पाना; किन्तु मध्य-वर्गी-आ परिवारों की सामन्ती जंजीरों को नहीं तोड़ सका। प्रसाद जी का -गुग धर्म संप्रदा-गों और समाज-सुधारों का रहस्य-वादी अद्वैतवादी -गुग था। मनु श्रद्धा के चरित्र विकास में उन्होंने अपनी समस्त सर्जनात्मक ऊर्जा लगा दी। 'कामा-आनी' के रूप में उनका -आह प्र-आत्म सराहनी-आ है। आज 'कामा-आनी' वै-क्तिवाद के जन्म और पूंजीवाद के बीमार औपनिवेशिक विचार की कथा है। मुक्तिबोध कहते हैं कि 'कामा-आनी' अपने -गुग का अवैज्ञानिक, असंस्कृत, अपरिष्कृत प्रतिबिम्ब है।' -आदि परिष्कृत प्रतिबिम्ब होता तो -गुग समस्-आओं का -आथार्थ्य हल प्रस्तुत कि-गा जाता। 'कामा-आनी' में ऐसा नहीं हुआ।

ग.मा. मुक्तिबोध ने 'कामा-आनी' को द्विअर्थक कथा नहीं माना। उसे चिंतन-मनन के पश्चात विराट फैन्टेसी घोषित कि-गा। उन्होंने अपने इस विचार पर पूरा बल दि-आ कि 'कामा-आनी' का अध-आ-आन मात्र मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूरा नहीं हो सकता। प्रसाद जी -गुग-प्रवृत्ति-गों और विचारधाराओं को कृति में सहजता से ढालने वाले रचनाकार थे। प्रसाद जी ने औपनिवेशिक पूंजीवादी सभ-आता की आलोचना कई कोणों से की है। 'कामा-आनी' महाकाव्य-आ में जितने पात्र हैं उनमें इड़ा का वै-क्तित्व पवित्रतम-उज्ज्वलतम है। श्रद्धा ने इड़ा पर आरोप लगा-आ है- 'सिर चढ़ी रही पा-आ न हृद-आ'। आचार्य शुक्ल ने श्रद्धा पर आरोप लगा-आ है- 'रसपगी रही पा-आनी न बुद्धि'। व-आ हो 'कामा-आनी' में इच्छा क्रि-आ ज्ञान का कोई सामंजस्य-आ नहीं है। श्रद्धा का जीवन सार्वजनिक जीवन नहीं है किन्तु इड़ा सामाजिक-सार्वजनिक जीवन जीती है। श्रद्धा में मानववादी सामाजिक प्रेरणा का अभाव खटकता है, उसमें खोखला आदर्शवाद है, वह घा-आलों को छोड़कर मनु पर ध-आन केंद्रित करती है। प्रसाद जी ने पूंजीवादी सभ-आता की विषमताओं-तनावों-द्वंद्वों के मूल में 'सब पिए मत्त लालसा घूंट' माना है।

मुक्तिबोध ने 'कामा-आनी' की श्रद्धापूर्ण आलोचना से दूर रह कर सामाजिक आधार को लेकर चलने का प्र-आत्म कि-गा। लेकिन 'कामा-आनी' के साहित्यिक महत्त्व को कम करना उनका उद्देश्य-आ एकदम नहीं रहा है। उन्हें कष्ट 'कामा-आनी' को लेकर -आह रहा है कि प्रसाद ने बुद्धिवाद विरोधी श्रद्धावाद का समर्थन व-गों कि-गा? जबकि प्रसाद जी का -गुग निपट श्रद्धावाद का -गुग नहीं था।

विज-आदेव नारा-आण साही ने 'लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' में कहा है कि प्रसाद जी की सूक्ष्म दृष्टि '-आथार्थ्य को लघु से और आदर्श को महत् से' संबद्ध करती है। लघु और महत् दोनों ऐसे ही मिलते हैं जैसे -आथार्थ्य और आदर्श। मेटाफिजिक्स प्रसाद जी के लिए अनुभव की विद्-आ उतनी नहीं है जितनी एक काव्य-आत्मक मुद्रा। छा-आवाद -गुग मनवाता रहा है कि मेटाफिजिक्स हो जाना ही भारती-आ परंपरा और संस्कृति से जुड़ जाना है। छा-आवाद की इसी मुद्रा को प्रगतिवाद ने नकार दि-आ। प्रगतिवाद का अंतर्जगत् आध-आत्मिक नहीं है। छा-आवाद में गांधी और रवींद्रनाथ दोनों आध-आत्मिक अंतर्जगत् के निर्माता रहे हैं। छा-आवाद की -गुगभूमि को 'कामा-आनी' सामने लाती है। उस -गुगभूमि का साही जी ने अपने निबंध में विस्तार से विश्लेषण कि-गा है। और कहा है कि प्रसाद जी की 'कामा-आनी' का दर्शन -गुग की रिक्तता को भर देने का प्र-आस है। इस रिक्तता को प्रसाद जी ज्ञान, इच्छा और क्रि-आ की भिन्नता के रूप में देखते हैं। प्रश्न उठता है कि व-आ मनु की आंतरिक रिक्तता का उत्तर समरसता का दर्शन है -आ श्रद्धा है -आ एक नई सृजनात्मक पीड़ा है? सबके बाद प्रसाद जी 'कामा-आनी' में काव्य-आत्मक अनुभूति को दार्शनिक रिक्तता से बचाने में सफल हुए हैं-जिसे पंत ने बार-बार बदला है। -आहां अपराजित संकल्प है-श्रद्धा और अपराजे-आ विवशता है इड़ा। मनु की चेतना विभाजन और विप्लव की चेतना है जिसकी रिक्तता समरसता के दर्शन को बर्दाश्त नहीं कर पाती। प्रश्न उठता है व-आ 'कामा-आनी' सिर्फ दर्शन है अनुभूति नहीं। तब फिर -आह एलेगरी का रूप व-गों? वेद की जगह वेद का निरुक्त व-गों? दीप्त बिंबों की जगह रूपा-आत प्रतीक कथा व-गों? व-आ अंधकार को सीधे नहीं भेदा जा सकता। केवल

उसकी परिक्रमा की जा सकती है। 'कामा-नी' के बाद हिंदी कविता का अगला चरण इस प्रश्न से शुरू होता है जिस समरसता को प्रसाद जी ने अनुभूति से दर्शन में बदल दिया, उसे कैसे दर्शन से अनुभूति में बदला जा-। समरसता का दर्शन -।। निर्वै-विकृत अनुभूति? बहुत दिनों तक आलोचकों में बहस चली कि पुत्रवती श्रद्धा को छोड़कर मनु क-ओं चले जाते हैं? प्रसाद जी इस प्रश्न का सही उत्तर नहीं दे सके क-ओं? कालांतर में प्रसाद के सारे प्रश्न, सारे अभिप्रा-।, सारे प्रतीक जो 'कामा-नी' में निहित हैं अज्ञे-। के कृतिकार मानस में मंडराते रहते हैं, -।।पि उनके अर्थ भिन्न हो जाते हैं। अज्ञे-। की कृति 'चिंता' 1941 तथा प्रसाद की कृति 'कामा-नी' का प्रथम सर्ग 'चिंता' मनःस्थिति-ओं के दो अलग छोर हैं। हम पाते हैं कि प्रसाद और अज्ञेय एक ही सेमेट्री की दो विपरीत दिशाएं हैं। अज्ञे-। जी अन्ततः प्रसाद के रास्ते से पलटकर न-।। राहों का अन्वेषण करते हैं।

मुक्तिबोध ने 'कामा-नी' पर जो पुनर्विचार कि-।। उसके पीछे मार्क्सवादी चिंतन का वैचारिक आधार है। इसलिए 'कामा-नी' की आलोचना में आचार्य शुक्ल, आचार्य नगेन्द्र एक छोर पर हैं तो मुक्तिबोध दूसरे छोर में प्रथम वर्ग के आलोचकों में उदात्त जीवन दृष्टि के स्वर सुनाई देते हैं तो मुक्तिबोध को उसमें असांस्कृतिक अपरिष्कृत चिंतन। एक छा-।।वाद का प्रबल आलोचक है तो दूसरा 'तारसप्तक' का कवि आलोचक। और साथ ही प्रगतिशील विचारधारा से संबद्ध डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'कामा-नी' पर पुनर्मूल-।।ंकन को लेकर पुस्तक लिखी और कहा कि पुनर्मूल-।।ंकन का प्रश्न तब उठता है जब रचना -।। -।।ग विशेष को देखने-परखने की दृष्टि में गुणात्मक अंतर आ जाए। 'पुनर्मूल-।।ंकन एक साथ ही रचना और प्रचलित समीक्षा दृष्टि दोनों का होता है।' सच बात -।।ह है कि पुनर्मूल-।।ंकन के माध-।।म से -।।ग-।।ग के साहित-।। को समकालीन जीवन से जोड़ते चलते हैं। डॉ. चतुर्वेदी के

कथन पर विचार करते हुए डॉ. नामवर सिंह ने 'कविता के नए प्रतिमान' पुस्तक के लेख 'पुनर्मूल-।।ंकन का एक उदाहरण: 'कामा-नी' शीर्षक में कहा "पुनर्मूल-।।ंकन की दृष्टि से 'कामा-नी' का चुनाव सर्वथा उचित है। 'कामा-नी' का प्रकाशन 1937 में हुआ जो एक -।।ग के काव-।।बोध का चरमबिंदु ही नहीं, बल्कि दूसरे -।।ग का आरंभ बिंदु भी है।" डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा है कि 'कामा-नी' को समझने की अब तक जो पद्धति-।। रही हैं महाकाव-।। के रूप में, रूपक के रूप में, ऐतिहासिक इतिवृत्त के रूप में, दार्शनिक रचना के रूप में -।। ऐसे ही कुछ अन्-।। पक्षों को आधार बनाकर।" -।। सभी पद्धति-।। मूल-।।ंकन का विस्तार अथवा पूरक नहीं, बल्कि उससे भी प्राचीन एकेडमिक अभ-।।ास मात्र हैं। काव-।। समीक्षा की नवीन पद्धति रचना को समग्रता में उसके 'अनुभव की संश्लिष्टता में देखने का -।।तन है।' एक सम-।। में आचार्य नन्ददुलारे वाजपे-।। ने भी 'कामा-नी' की समग्रता में समीक्षा का प्रश्न उठा-।। था जिसके महत्व को डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने स्वीकार कि-।। है। डॉ. चतुर्वेदी ने स्वतंत्र रूप से 'कामा-नी' के 'संश्लिष्ट रूप विधान' का प्रश्न उठाकर एक महत्वपूर्ण का-।। समीक्षा क्षेत्र में कि-।।। डॉ. नामवर सिंह ने डॉ. चतुर्वेदी के समीक्षा-का-।। में 'कामा-नी' को लेकर 'कोई मूल-।। निर्ण-।।' नहीं पा-।। तो कहा कि -।।ह स्पष्टतः पुनर्मूल-।।ंकन की विडम्बना है।

सारांश -।।ह कि 'कामा-नी' एक ऐसा ऐतिहासिक सांस्कृतिक दस्तावेज है- जिसकी आलोचना के बहाने निरन्तर मूल-।। बोध पर बहस जारी रही है। एक प्रकार से -।।ह कृति हमारी पूरी चिंतन परंपरा पर पुनः पुनः विचार का आग्रह करती है। तमाम मतभेदों के होने पर भी 'कामा-नी' आधुनिक हिंदी काव-।। की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। साहित-।। एवं साहित-।।ालोचन के सिद्धांतों के लिए 'कामा-नी' की सभ-।।ता समीक्षा तथा पाठ-विमर्श निरन्तर चुनौती है। -।।ह चुनौती ही आलोचना की प्रेरणा बनी रहेगी।



## मुक्तिबोध कृत कामायनी- मूल्यांकन

प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित

‘कामायनी’ एक कल्पकृति है और मुक्तिबोध एक प्रखर युग कवि। नयी कविता छायावादी बोध को चुनौती देती हुई उभरी थी। उस धारा के कवियों समीक्षकों के सामने सबसे बड़ी चुनौती थी-कामायनी को खारिज करने की। वे कामायनी के निगूढ़ मर्म को तो नहीं समझ पाए, पर यह मानकर कि यह कृति सामंती व्यवस्था की पोषक है, उन्होंने मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के सहारे उसकी व्याख्या कर डाली। वे भूल गए कि ‘कामायनी’ 20वीं सदी तक सीमित न होकर एक विकासवादी चिरंतन काव्यकृति है। मुक्तिबोध की यही सीमा है।

विकासवाद प्राणिशास्त्र, नृतत्त्व और समाजशास्त्र का एक बहुचर्चित सिद्धांत है। यह जीवन एवं जगत के विकास तथा क्रमिक उन्नयन का ऐसा विश्वासमत है जिसे सृष्टि-विज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान, पुरातत्त्व आदि के निकट भी रखा जा सकता है। भारतीय दर्शन में आत्मवादी सिद्धांत के अन्तर्गत पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड के अभेदात्मक सम्बन्ध को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, सांख्य में दृष्ट जगत का अव्यक्त मूल प्रकृति से जिस प्रकार विकास क्रम निरूपित किया गया है (जिसकी पुष्टि हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी की है) दूसरी ओर यूनानी दर्शन में मनुष्य और अन्य प्राणियों में जिस प्रकार आत्मैक्य स्थापित किया गया है, उससे विकासवाद की मूलभूत मान्यताओं की पुष्टि होती है। भारतीय पौराणिक मान्यतानुसार सृष्टि के विकास एवं ईश्वरवतारों में भी विकासवाद संबंधी कुछ सूत्र-संकेत खोजे जा सकते हैं। जैसे- प्रथमावतार (मत्स्यावतार) को जल में रहने वाला जीव, कूर्मावतार को जल-थल दोनों में रहने वाला जीव तथा नृसिंहावतार को अर्द्धमानव (उपमानव) जैसा जीव कहा जा सकता है। चतुर्युगों (सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग) की परिकल्पना में भी विकासवादी तत्त्वों का सन्निवेश है। तात्पर्य यह है कि विकासवाद भारतीय साहित्य का एक चिरपरिचित सिद्धांत है। आज यह साहित्य की अपेक्षा विज्ञान का निकटवर्ती विषय बन गया है। जीव विज्ञान के अनुसार मानव का निर्माण एक विकास-प्रक्रिया के अन्तर्गत हुआ है। मनुष्य जंतु-जगत का एक ऐसा सदस्य है, जो असंख्य कोशिकाओं द्वारा निर्मित हुआ है। शारीरिक अवयवों की दृष्टि से इसे बहुकोष्ठी

जीव कह सकते हैं। यह स्तन पोषित मैमलस कुछ अन्य जंतुओं जैसे- शिबन, बबून, लीमूर, मैडिल, शिम्पैजी, औरांग उटांग, गोरिल्ला, लंगूर, वनमानुष, वानर आदि की आकृति-प्रकृति वाला एक दोपाया जानवर है। हाँ, मस्तिष्क के वैशिष्ट्य के कारण उसे कुछ भिन्न कहा जा सकता है। वैज्ञानिकों के अनुसार, इस मनुष्य की उत्पत्ति लगभग 20 लाख वर्ष पूर्व हुई थी। इसके अनेक आकार-प्रकार, जातियाँ और उपजातियाँ हैं। इसका विकास क्रम भी बड़ा विचित्र है। आदिम मानव से लेकर सभ्यता के महामानव तक इस जाति ने अपनी जीवन यात्रा में अनेक युग पार किए हैं, जो प्रत्यक्ष परोक्ष रूप में कामायनी के अन्तर्गत वर्णित हैं।

विकासवादी दर्शन में प्रमुख रूप से प्रस्फुटन व्यक्तिकरण, आनुवंशिकता, परिवर्तिता और अस्तित्व-संघर्ष के सिद्धांत प्रचलित हैं। इनके प्रमुख विचारकों में लामार्क, चार्ल्स डार्विन, वाइजमैन, ह्यूगो, ब्राइस, लायड मार्गन, नीत्से आदि के नाम अग्रगण्य हैं। इनमें पारस्परिक वैभिन्य होते हुए भी इतना सर्वस्वीकार्य रहा है कि मानव सृष्टि का केन्द्र है, जीवन सूत्र सतत परिवर्धमान है। जगत अस्थिर परिवर्त्य एवं विकासोन्मुख है, मानव की दृष्टि प्रकृत्या ऐहिक है, उसके चिरंतन मूल्य संदिग्ध हैं और वह मूलतः जीवन परक है। इसी विचारक्रम में महर्षि अरविंद का सोपानवाद भी विचारणीय है। उन्होंने मनुष्य की नैतिक, आध्यात्मिक तथा आनुभूतिक प्रक्रिया का विश्वास प्रकट किया है और इस निर्माण को प्रतिक्षण विकासशील सिद्ध किया है। अस्तु! संक्षेप में, इतना स्पष्ट है कि विकासवाद आज के ज्ञानियों-विज्ञानियों का एक मुख्य विवेच्य विषय है जिसके चिन्तन की लम्बी परंपरा है और उतरोत्तर संभावना भी।

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में कामायनी की परीक्षा करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कामायनीकार भी न्यूनाधिक रूप में इस दर्शन को अंगीकार करके चला है। कामायनी जीवन का सर्वसंकलन है। यह एक ऐसी कल्पकृति है जिसमें समग्र ज्ञान-विज्ञान का विन्यास किया गया है। ऐसी स्थिति में विकासवाद विषयक सूत्रों का संधान भी इस कृति के आधार पर किया जा सकता है। आलोच्य कृति में विकासवाद के मूलभूत तथ्यों को घटित किया जा सकता है और उसे विकासवाद का साहित्यिक संस्करण कहा जा

सकता है, जिसमें 'मानव भावों का सत्य' सन्निहित है। कामायनी की कथावस्तु सृष्टि के उद्भव तथा विकास, मानवता के आविर्भाव एवं पर्यवसान, जगत की उत्पत्ति और आनुषंगिक गतिविधि से सम्बद्ध है। कामायनी में मनु-श्रद्धा का युग्म सर्व प्रलय और पुनः सृष्टि के बाद जिस प्रकार संसृति की वृद्धि करता है, उसके यथेष्ट संकेत तथा संदर्भ प्राप्य हैं, जैसे-

*'बनो संसृति के मूल रहस्य तुम्हीं से फैलेगी यह बेल।'*

*'मनु! क्या यही तुम्हारी होगी उज्ज्वल नव मानवता।'*

'प्रजापति' मनु जिस प्रकार मानव का वंश विस्तार करते हैं उससे आनुवंशिकता की पुष्टि होती है और उन्हें मानवता का जनक मानना पड़ता है। मनु की जीवन यात्रा अस्तित्व-संघर्ष से लेकर आत्मरोहण (आध्यात्मिकरण) तक जिस प्रकार अन्तर्व्याप्त है, उससे इस कृति में विकासवाद की पूरी संभावना दिखती है। इसे प्रमाणित करने के लिए विकासवाद के एक-एक पक्ष का विश्लेषण और कामायनी में उसका अन्तर्घटन करना समीचीन होगा।

विकासवाद में प्रस्फुटन और व्यक्तिकरण के सिद्धांत को बहुत प्रश्रय दिया गया है। अव्यक्त का व्यक्त होना ही जैव तत्त्व का प्रस्फुटन है। कामायनी में प्रत्योपरांत जब अव्यक्त प्रकृति का उन्मीलन होता है, तो महाचिति तत्क्षण सजग और व्यक्त हो जाती है-

*'अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन में-*

*महाचिति सजग हुई सी व्यक्त-*

पुनःसृष्टि की बेल में जब जल-प्लावन समाप्त हो जाता है और जगत प्रकट हो जाता है। व्यक्तिकरण की प्रक्रिया में ही जैवधर्म का विकास हुआ है। कामायनी में 'प्रलय-प्रवाह' के बीच चारों ओर जड़ तत्त्व, 'सघन हिम', 'हिमधवल पत्थर', 'हिमशीतल जड़ता', 'छायापथ का नवतुषार', 'घने कुहासों की वृष्टि' और 'हिम आच्छादन' फैला हुआ है। वैज्ञानिक मान्यतानुसार लगभग 150 करोड़ वर्ष पूर्व आदि कल्प के भू-तात्विक-युग में लारवा, कीट, डिम्बों तथा समुद्री पशुओं की सृष्टि हुई। प्रसाद जी ने 'ज्योतिरिंगणों' (17) का नामोल्लेख किया है। इसके बाद नयी परिस्थिति और वायुमण्डल में सर्वप्रथम जलचर जीवों की सृष्टि हुई है। इसे 'मत्स्य कल्प' (50 करोड़ वर्ष पूर्व)

कहा जाता है। कामायनी के मनु का अनुमान है कि इस सर्व संहारिणी स्थिति में जबकि कोई जीव शेष नहीं है, मछलियाँ अवश्य जीवित या पुनरुज्जीवित हो गयी होंगी—

‘टकराती होंगी अब उनमें तिमिंगिलों की भीड़ अधीर।’

ये जलचर समुद्र तलवासी हैं। प्रलय काल में ये भी विनष्ट हो गये थे—

‘जलनिधि के जलवासी जलचर विकल निकलते उतरते।’

शनैः शनैः भूमण्डल प्रकट होने लगता है। जल की जलीयता लुप्त होने लगती है। मृत्युका प्रकट हो जाती है—

इस भूतत्व के निर्माण के परिणामस्वरूप सरीसृप (रेंगनेवाले जीवन) उत्पन्न हुए, इसे ‘सरीसृप कल्प’ (6 करोड़ वर्ष पूर्व) कहा जाता है।

कामायनी में वनस्पति जगत का विकास-क्रम भी वर्णित हुआ है। कवि ने पादप-पुष्पों को स्वतः प्रस्फुटित सिद्ध किया है—

‘धीरे-धीरे हिम आच्छादन हटने लगा महीतल से।

‘जगीं वनस्पतियाँ अलसाईं --- ---।’

हिम आच्छादन के समाप्त हो जाने पर अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ जीवित हो उठती हैं। इन्हीं से धान्य (खाद्यान्न) का संधान किया जाता है—

‘स्वर्ण शालियों की कलमें थीं दूर-दूर तक फैल रहीं।’

इनका निरंतर विकास होता जाता है। कामायनीकार ने वनस्पति के विकास के स्पष्ट संकेत दिए हैं—

‘शस्य पशु या धान्य का होने लगा संचार।’

श्रद्धा के कुटीर का वर्णन करते हुए प्रसाद जी ने कुंज द्वार, छाजन, पर्णमय प्राचीर, लता झूला आदि का जो नामोल्लेख किया है (149) उससे मानव के विकसनशील वानस्पतिक उपयोग का प्रमाण मिलता है। कामायनीकार ने एक विशिष्ट वनस्पति ‘सोम’ की पुनरुपलब्धि या अन्वेषणा की ओर भी अंगुलि निर्देश किया है—

‘देवों के सोम सुधारस की मनु के हाथों में बेल रही।’

यह सोम देवताओं का आद्यत उपभोग्य रहा है। कालांतर में, इसे विसर्जित कर दिया जाता है। प्रसाद जी ने पर्वतीय वनस्पतियों का भी रूपांकन किया है। उन्होंने ‘लताकलित’ हिमालय की वानस्पतिक शोभा को प्रत्यक्षीकृत कराया है।

इस प्राकृतिक हरीतिमा के अतिरिक्त अंतरिक्ष निवासी

जीवों और वृक्षवासी पक्षियों का अस्तित्व भी इंगित किया गया है, यथा—

‘देखो नीड़ों में विहग युगल अपने शिशुओं को रहे चूम।’

थल वासी जीवों में कामायनीकार ने पशुओं की उपलब्धि पशु बलि, आखेट और पशुपालन के वृत्तांत उपस्थित किए हैं। मनु प्रथम बार श्रद्धा के पशु को देखकर किलाताकुलि की दुष्प्रेरणा से रक्तलोलुप हो उठते हैं और योजनाबद्ध रूप से उसका वध (बलि) करते हैं। पशु की ‘कातर वाणी’ से क्षुब्ध होकर श्रद्धा, मनु को पशुपालन की प्रेरणा देती है—

‘ये प्राणी जो बचे हुए हैं इस अचला जगती के।

उनके कुछ अधिकार नहीं क्या वे सब ही हैं फीके?’

अन्यत्र, हिंसालु मनु की अहेरी वृत्ति के शमन हेतु पशुओं की उपयोगिता सिद्ध करती हुई वह कहती है—

‘‘चमड़े उनके आवरण बने, ऊँों से मेरा चले काम,

वे जीवित हों मांसल बनकर हम अमृत दुहें वे दुग्ध धाम।’’

— वे पाले जा सकते सहेतु

पशुपालन विषयक उपर्युक्त उपदेश वह मनु की मृगया से ऊब कर देती है। कामायनी में जिन पशुओं का उल्लेख आया है वे दो श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं—

1. वन्य पशु— जैसे हरिण

2. गृह पशु— जैसे श्रद्धा का चंचल मोहक चरमधारी पशु इस श्रेणी में दुग्धधारी पशु (जंगली गाय) और ऊन चर्म वाले पशु (जैसे मेष) भी सम्मिलित हैं। भारवाहक तथा वाहन रूप में पशुओं का उपयोग करने का संकेत भी कामायनी में प्राप्त है। सारस्वत प्रदेश का जनसमूह जिस वृषभ पर सोमलता को लादकर पर्वतारोहण करता है, वह धवल धर्म का प्रतिनिधि वृषभ निश्चय ही भारवाही है। स्पष्ट है कि पशु (चौपाये) वर्ग के संबंध में भी आलोच्य कृति में अनेक महत्वपूर्ण उल्लेख है।

इन (जल, थल, नभ के) जीवन जंतुओं, वन, वनस्पतियों और अन्यान्य जैव तत्त्वों की प्रस्तुति करके कामायनीकार ने मानवता के विकास का आख्यान प्रस्तुत किया है। विकासवादी लेखक मानव का विकास ‘एन्थ्रोपायड एप’ से मानते हैं जो एक अज्ञात प्राणी है। मानव विकास की यह लुप्त कड़ी (मिसिंग लिंक) मानव समप्राणी थी। प्रसाद जी

भी आदि मानव को अज्ञात तथा रहस्यपूर्ण सिद्ध करते हैं। शास्त्रों के साक्ष्य के आधार पर कामायनी के 'मनु' और श्रद्धा मानवता के मूल उन्नायक हैं। मनु देव जाति के ध्वंसावशेष हैं। उन पर देवों का वंशानुगत प्रभाव पड़ा है और उनका आनुवंशिक प्रभाव उनके पुत्र 'मानव' पर भी पड़ा है। श्रद्धा की इस युक्ति द्वारा इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है—

‘अरे पिता के प्रतिनिधि - - -’

इस कथन से पितृ सत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था का संकेत भी प्राप्त हो सकता है। इस मनुजात मानव में अपने मातृ पक्ष से प्राप्त श्रद्धामय संस्कार भी है। तभी श्रद्धा कहती है—

‘यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय।  
मेरे सुत सुन माँ की पुकार।’

इन उक्तियों के आधार पर कामायनीकार आनुवंशिकता का समर्थन करता प्रतीत होता है। माता-पिता के समान संतति का होना, सर्वश्रेष्ठ विकासवादी विचारक चार्ल्स डार्विन का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। डार्विन ने आनुवंशिकता के साथ संयोगजन्य वातावरण को भी आंगिक उद्विकास या व्यक्तित्व का विधायक तत्त्व माना है। कामायनी के मनु भी प्रकृति और परिवेश के अनुसार बनते-बिगड़ते दिखाई देते हैं, अर्थात् प्रलय काल में मुमूर्षा, पुनर्सृष्टि के क्षणों में जिजीविषा, संघर्ष की स्थिति में हिंसा, पराभाव काल में निर्वेद और सामरस्य की स्थिति में आनंद का आश्रय बनते हैं। वे श्रद्धा-प्रेरित होकर सृजनशील बनते हैं, आसुरी तत्त्व किलाताकुलि द्वारा उत्तेजित किए जाने पर हननशील बनते हैं, काम से संबोधित किए जाने पर राग पूर्ण हो जाते हैं और इड़ा द्वारा आमंत्रित होने पर कर्मशील बन जाते हैं। मनु का स्थिरता परिवेश प्रेरित है। उसका यह व्यक्तित्व कुछ सहज पारिस्थितिक प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। इन संदर्भों द्वारा विकासवाद की अविफल पुष्टि की जा सकती है। वैज्ञानिकों के मतानुसार प्रलयकारी प्रकृति के रौद्र रूप को देखकर मनुष्य देवोपासक बना है। यह एक प्रकार की भयोपासना है, जिसे आत्मनिष्ठ सौंदर्य-बोध के अनुरूप रमणीय रूप दे दिया गया है। मनु प्रकृति के भीषण रूप से भयार्त होकर उस अलक्ष्य शक्ति की समाराधना करने

लगते हैं—

‘विश्वदेव सविता या पूषा व्योम मरुत चंचल पवमान।

‘हे अनंत रमणीय कौन तुम ? ‘तुम कुछ हो ऐसा होता भान ?’

यह देवोपासना जहाँ रहस्य को जन्म देती है, वहीं जीवनावस्था की वृद्धि भी करती है, फलतः मरणधर्मा मनु, जो ‘मौन, नाश, विध्वंस, अँधेरा’ तथा ‘चिरनिद्रा’ (मृत्यु) का ‘शीतल अंक’ माँग रहे थे, अब जीवनेच्छा प्रकट करने लगते हैं—

‘जीवन, जीवन की पुकार है — — ।’

मैं भी कहने लगा मैं रहूँ शाश्वत नभ के गानों में।’

‘तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी जीकर क्या करना होगा— ?’

जिजीविषावश ही मनुष्य कर्मस्वी बनता है। मनु इसी कर्मस्विता से प्रेरित होकर यजनशील बनते हैं अथवा कर्मयज्ञ द्वारा उनमें चिकीर्षा उत्पन्न होती है। यह निरंतर बढ़ती जाती है—

‘पाक यज्ञ करना निश्चित कर लगे शालियों को चुनने।’

‘जलने लगा निरंतर उनका अग्निहोत्र सागर के तीर—।

कर्ममय जीवन की प्रेरणा मनुष्य में साहचर्य की भावना उत्पन्न करती है। फलतः आत्मकेन्द्रित मनु की अन्तर्मुखी चेतना ‘स्व’ से ‘पर’ की ओर अग्रसर होती है—

‘कब तक और अकेले कह दो है, मेरे जीवन बोलो।

शनैः शनैः उसका एकांत स्वार्थ नष्ट हो जाता है और तभी यज्ञ का अवशिष्ट अन्न कहीं दूर रख आता है, ताकि कोई ‘अपरिचित’ व्यक्ति यदि वह अभी ‘जीवन लीला रचे हुए’ है तो वह इस ‘बलि के अन्न’ को पाकर तृप्त हो जायेगा। ‘भूत हितरत’ मनु के इस दान (हविष्यान्न) में मनु की विस्तारिता के सूत्र-संकेत मिलते हैं। साहचर्य लालसा के कारण दोनों का सहअस्तित्व आरंभ होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वासना सर्ग के पूर्व इन दोनों में स्त्री-पुरुष का लैंगिक भेद-भाव नहीं उत्पन्न होता। इसलिए प्रथम साक्षात्कार के क्षणों में ही श्रद्धा निस्संकोच भाव से मनु को संबोधित करती है और ‘सहचर’ बनने का प्रस्ताव करती हुई स्वयं आत्म-समर्पण हेतु प्रस्तुत हो जाती है—

‘तुम्हारा सहचर बनकर क्यों न उच्छ्रित होऊँ मैं—।’

यहाँ ‘सहचरी’ शब्द का प्रयोग न करके ‘सहचर’

शब्द प्रयुक्त किया गया है जिससे यह ध्वनित होता है कि दोनों में अभी प्रवृत्तिगत लिंग-भेद नहीं है। सम्भवतः इसी उद्देश्य से कवि ने श्रद्धा को पुरुषवाचक संज्ञायें दी हैं, यथा—

‘लगा कहने आगन्तुक व्यक्ति - - ’

‘कौन हो तुम वसंत के दूत- ’ (न कि दूतिका)

मनु लज्जा सर्ग के पूर्व तक श्रद्धा को अतिथि संबोधन देते हैं, तथा श्रद्धा उन्हें ‘तपस्वी’ और ‘सखे’ का संबोधन देती है। शनैः शनैः दोनों पारस्परिक आकर्षण के कारण निकट सम्पर्क में आते हैं। नित्य परिचित हो रहे— (81) ‘वासना सर्ग’ में स्पर्श जनित उद्वेग, रोमांच तथा भिन्न लिंगिय आकर्षण से प्रेरित होकर उसमें यौन भाव का संचार होता है। श्रद्धा मनु को ‘सुकुमारता की रम्य नारी मूर्ति’ रूप में दिखायी देने लगती है। उसमें भी ‘नारीत्व का मूल मधु अनुभाव’ जाग्रत हो जाता है। फलतः पुरुष के ‘नर्ममय उपचार’ से प्रभावित नारी हृदय का समर्पण ‘चिरबंध’ रूप में परिणत हो जाता है। यहीं से नर-नारी की ‘रति की प्रतिकृति’ रूप में ‘आवर्जना मूलक’ लज्जा की मनोवृत्ति उत्पन्न होती है। अपने अनेक अन्तर्द्वन्द्वों, संकल्प-विकल्पों और मानसिक ऊहापोहों के पश्चात् अंत में उसे नर-नारी के चिरन्तन संबंध का ‘संधिपत्र’ लिखना पड़ता है। फलतः पारिवारिक जीवन का आरंभ होता है। कवि ने स्पष्टतः श्रद्धा को ‘अर्धांगिनी’ कहा है। इसके पूर्व मनु जिस ‘कामचार’ “मधुप सदृश निश्चित विहार” से ग्रस्त था, उसे वैवाहिक संस्था की स्थापना के बाद वर्जनीय घोषित कर दिया जाता है। अस्तु, जब श्रद्धा के मातृ रूप से ईर्ष्यालु, उसके विभक्त से क्षुब्ध ‘चिर किशोरवय नित्य विलासी’ और ‘ममत्वकामी’ मनु पलायन कर जाता है और अपनी यौन अराजकतावश उसका ‘नर पशु’ अपनी ‘आत्मजा प्रजा’ इड़ा के साथ ‘अतिचार’ करता है तो उसे प्रकृति और प्रजा का प्रकोप सहन करना पड़ता है और फिर पराभूत होकर निर्वेद का मार्ग ग्रहण करना पड़ता है। सामाजिक विकास क्रम में आज मुक्त भोग, जन क्रांति, प्राकृतिक प्रकोप, कुंठित विवेक, नरवस ब्रेक डाउन, प्रकृति की ओर प्रत्यावर्तन (बैंक टू नेचर) और आधात्मीकरण (जैसे - हिप्पी-सिद्धांत) की जो स्थिति आ रही है, उसका पूर्व संकेत

कामायनी के संघर्ष से आनंद सर्ग तक प्राप्त है। यह विकासवाद का समाज-मनोवैज्ञानिक पक्ष है। इसे ‘मध्यकालीन मानसिक वृत्ति’ स्वीकार कर कामायनी को ‘असफल कृति’ कहना मतिभ्रम है— क्योंकि वह तो अत्याधुनिक जीवन का सत्य है।

परिवर्तन का सिद्धांत विकासवाद में बहुत महत्वपूर्ण है। कामायनीकार ने जीव, जगत तथा अन्याय शक्तियों को सतत परिवर्तनशील ‘सब परिवर्तन के पुतले’ कहा है। प्रकृति में परिवर्तनजनित ‘नूतनता का आनंद’ प्राप्त है—

यह परिवर्तन ही विकास का हेतु है। परम्परारूप में यही जीवन को गतिशील बनाता है। सृष्टि के आरंभ से लेकर आज तक मानव ने जो प्रगति की है, वही मानव सभ्यता का इतिहास कहलाता है। विद्वानों ने इसे कई युगों में विभक्त किया है— जैसे— आदिम युग, आखेट युग, कृषि-पशुपालन युग, औद्योगिक युग, अणु युग आदि।

कामायनी में आदिम युग के प्रमाण अत्यल्प हैं। कवि ने देव जाति से सृष्टि का शुभारंभ कराया है जिसे आदिम नहीं कह सकते। सभ्यता के विकास के महत्वपूर्ण चरण हैं— आखेट, कृषि तथा पशुपालन युग। कामायनीकार ने ‘स्वर्ण शालियों’ की कलमों ‘शस्य पशु या धान्य’ के उपकरणों श्रद्धा द्वारा शालि-चयन, अन्न के एकत्रीकरण, बीज संग्रह आदि कार्यों का उल्लेख कर इस युग की अवतारणा इंगित की है। इस युग में मानव यायावर अर्थात् खाद्यान्न एवं पशुचारे की खोज में विचरणशील रहा है। श्रद्धा भी कुछ इसी प्रकार की सूचना देती है—

‘घूमने का मेरा अभ्यास बढ़ा था मुक्त व्योम तल नित्य।’

दूसरी ओर मनु उन्मुक्त सा वन-वन भटकता फिरता है। इनमें एक देशीयता नहीं है। धीरे-धीरे श्रद्धा के हृदय में नारी सुलभ वात्सल्यवश वन्य पशुओं के प्रति अगाध प्रेम उत्पन्न होता है पर मनु इनके प्रति हिंसालु है। शक्तिमान होने के कारण पुरुष में अधिकार भावना बढ़ती जाती है। फलतः वह ‘अपने प्रभुत्व की सुख-सीमा’ की वृद्धि के लिए और अपनी अहम् तृप्ति के लिए अहेर करने लगता है। इसे आखेट युग के अन्तर्गत ग्रहण किया जा सकता है। कामायनी में आखेटावस्था सूचक कई उक्तियाँ हैं—

मनु को अब मृगया छोड़ नहीं रह गया और था अधिक काम।



‘लौटे थे मृगया से थककर मृग डाल दिया शिथिलित शरीर।

मनु यों शस्त्रास्त्रों का आविष्कार कर लेते हैं। कृषि तथा पशुपालन युग में पशुओं से प्राप्त विविध वस्तुओं का व्यापक उपयोग होने लगता है, उदाहरणार्थ उनके चर्म वस्त्र, आस्तरण (बिछौने) आदि के रूप में व्यवहृत होने लगते हैं। कवि ने श्रद्धा के ‘परिधान’ का वर्णन करते हुए उनके उपयोग की ओर अंगुलि निर्देश किया है— यथा—

‘मसृण गांधार देश के नील रोम वाले मेषों के चर्म

ढक रहे थे उसका वपु कांत बन रहा था अति कोमल वर्म।’

शनैः शनैः सूत के धागों से बुनकर नए वस्त्रों का प्रचलन आरंभ हो जाता है। श्रद्धा ने बुना वस्त्र भी धारण किया है—

‘कटि में लिपटा था नवल वसन वैसा ही हलका बुना नील।’

वह तकली चलाकर (चल री तकली धीरे-धीरे कुटीर उद्योग द्वारा सूती वस्त्रों का उत्पादन करती है, ताकि भावी मानव इनसे अपने शरीर की सुरक्षा, आत्मप्रसाधन तथा लोक-लज्जा की संरक्षा कर सके—

‘चिर नग्न प्राण उनमें लिपटे सुंदरता का कुछ बढ़े मान।’

‘..... आगंतुक पशु सा न रहे निर्वसन नग्न।

इस युग में आस्तरण (बिछौने) के रूप में भी चर्म का प्रचलन था। इसका भी एक प्रमाण प्रस्तुत है। कवि ने पशु चर्म पर श्रद्धा के शयन का वर्णन करते हुए लिखा है—

‘कामायनी पड़ी थी अपना कोमल चर्म बिछा के।’

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कामायनी में आखेट, कृषि तथा पशुपालन युग से संबंधित युग जीवन को घटित किया जा सकता है और बहिर्साक्ष्यों द्वारा भी उनकी पुष्टि की जा सकती है।

कामायनी में औद्योगिक एवं यांत्रिक युग के भी यथेष्ट संकेत हैं। कांस्य कालीन नगर क्रांति के युग में जिस प्रकार नागरिक जीवन का प्रादुर्भाव हुआ, जिस प्रकार सैन्य शक्ति, व्यापार, विधि संहिता, मुद्रा-निर्माण, भवन-निर्माण आदि का आविष्कार हुआ, उसका संकेत-सूत्र तथा स्थल कामायनी (सारस्वत नगर वर्णन प्रसंग) में प्राप्य है। इड़ा, स्वप्न, संघर्ष और रहस्य सर्ग में कवि ने प्रौद्योगिकी प्रणीत सभ्यता और तज्जन्य वर्ग संघर्ष, नियमवश्यता, भयोपासना, युद्ध रति, दण्ड, उद्दण्डता, यौन उच्छृंखलता, अराजकता, अपराध

चेतना, जन क्रांति, कृत्रिम जीवन तथा युग संक्रांस आदि का भी सप्रमाण उपस्थापन किया है। यंत्रवाद भौतिक उन्नति में जिस प्रकार सहायक हो रहा है उसके संकेत यद्यपि प्रसाद जी ने यथा संदर्भ दिए हैं जैसे—

‘खेतों में हैं कृषक चलाते हल प्रमुदित श्रम स्वेद सने।’

फिर भी यंत्र विज्ञान ने जिस वैषम्य एवं संघर्ष की सृष्टि की है, उसका कामायनीकार ने सशक्त प्रत्याख्यान किया है—

‘क्षण भर भी विश्राम नहीं है प्राण दास है क्रियातंत्र का।’

सम्प्रति प्राणतत्त्व की जो साधाना की जा रही है, सुयश लालसा तथा अपराधों की जो बाढ़ आई हुई है, अधिकार-सृष्टि हेतु वर्गों की जो दिनों दिन ऊँची खाई बनाई जा रही है और प्रकृति-संघर्ष श्रम-भाग आदि के कारण जीवनी शक्ति का जो यातनामय शोषण किया जा रहा है, उससे मानव जाति संतस्त हो गयी है। कामायनीकार के शब्दों में—

शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी—।’

यह सब आधुनिक वैज्ञानिक बोध का परिणाम है और सामाजिक स्थिति का ज्ञात यथार्थ भी।

उपर्युक्त काल-विभाजन के साथ-साथ हिम पाषाण, काष्ठ, ताम्र और लौह युग विषयक कुछ उल्लेख भी इस कृति में प्राप्य हैं। आलोच्य कृति में ‘हिमयुग’ विषयक अनेक उक्तियाँ हैं। सर्गारम्भ में कवि जिस एक तत्त्व की प्रधानता का वर्णन करता है, वह है— ‘दूर-दूर तक विस्तृत था हिम’ कामायनीकार ने इस पाषाणी प्रकृति को स्पष्टतः ‘हिमवती’ कहा है और उसे ‘हिमशीतल जड़ता’ के रूप में चित्रित किया है। हिमालय का वर्णन करते हुए कवि ने कलकल नाद करते हुए हिमनदों का भी संकेत किया है। इसके अतिरिक्त ‘हिम आच्छादन’, ‘हिम संसृति’, तुषार वृष्टि आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनसे कामायनी में हिमयुग के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। कामायनी में पाषाणयुग के सूचक अनेक कथन हैं। काव्य के आरंभ में ‘शिला चरण’, शिला की छाँह’, शिला संधि’, ‘दुर्भेद्य अचल जड़ता’ आदि का संकेत देकर इस पाषाणी प्रकृति अर्थात् ‘पाषाण युग’ के पर्याप्त सूत्र प्रस्तुत कर दिए गए हैं। इस युग में पाषाण के शस्त्रास्त्रों के प्रयोग का भी एक संकेत प्राप्त है। मनु अपनी अहेरी वृत्ति की घोषणा करते हुए कहते हैं—

‘पशु कि हो पाषाण सब में नृत्य का नव छंद-।’

मनु के लिए पशु वध्य है, पाषाण उपकरण है और यह पशु वध नृत्य के नव छंद की भाँति रुचिकर है। पाषाणी प्रकृति के अनुकूल मनु ने गुफा को ही अपना आवास बनाया है-

‘थी अनन्त की गोद सदृश जो विस्तृत गुहा वहाँ रमणीय।

उसमें मनु ने स्थान बनाया सुन्दर, स्वच्छ और वरणीय।’

शनैः शनैः इस गुहा द्वार को ‘कुंज गृह’ के रूप में परिणत कर लिया जाता है। कृषि तथा पशुपालन युग में बस्ती का आरंभ होने पर श्रद्धा एक विशिष्ट कुटीर निर्मित करती है। कामायनी में गृह लक्ष्मी का यह गृह विधान सविस्तार वर्णित हुआ है। पाषाण युग में अग्नि का भी आविष्कार हुआ। इसके कुछ सूक्ष्म संकेत कामायनी में द्रष्टव्य हैं-

‘पहला संचित अग्नि अग्नि जल रहा प्रथम मलिन वृत्ति रविकर से शक्ति और जागरण चिह्न सा लगा धधकने अब फिर से।’

यह अग्नि पाषाण युग में चकमक पत्थर से उत्पन्न की गयी थी। इसे काष्ठ द्वारा सुरक्षित किया गया था। इस अग्नि चर्या का प्रमुख प्रयोजन था- अग्नि होम (यजन कार्य) अर्थात् ‘पाक यज्ञ’। इस पाक यज्ञ का अवशिष्ट अन्न निरंतर संचित होता रहता है। श्रद्धा इस प्रस्तरी भूत अवशेष (अवशिष्ट अन्न) को देखती है-

और उसके संदर्भ सूत्रों का शोध करती है। विकासवादियों ने इन अवशेषों को ‘प्रस्तर विकल्प’ की संज्ञा दी है। उनके मतानुसार हिम प्रलय, प्लावन तथा भूकम्प द्वारा जो पदार्थ धरती के स्तरों में दब जाते, वे ही प्रकारांतर से (ध्वंसावशेष रूप में) इतिहास के साधन सूत्र बनते हैं। कामायनीकार के भी शब्दों में-

‘युगों की चट्टानों पर सृष्टि डाल पदचिह्न चली गंभीर।

देव गंधर्व असुर की पंक्ति अनुसरण करती उसे अधीर।’

चट्टानों की भीतरी तहों में प्राप्य ये ज्वलित पदार्थ भूगर्भशास्त्र एवं पुरातत्त्व शास्त्र के विषय हैं।

प्रस्तुत प्रमाणों के आधार पर यह स्थापित किया जा सकता है कि कामायनी में सृष्टि के क्रमबद्ध विकास का और उसके विभिन्न युगों का पर्याप्त संकेत है। हाँ, आदिम युग और भावी अणु युग संबंधी उल्लेख इसमें अवश्य कम

हैं। इसी क्रम में धातुओं से संबंधित युगों के संकेत भी खोजे जा सकते हैं, जैसे-

‘उधर धातु गलते...।’

एक बात और। प्रसाद जी ने आदि मानव (मनु) को वानर वंश से उत्पन्न नहीं माना है। इसके पीछे उनकी भारतीय सांस्कृतिक मान्यता सक्रिय रही है। अब तो कुछ अन्य वैज्ञानिकों का भी यही मत हो चला है। प्रसिद्ध नृत्य-वेत्ता और पुराविद् डॉ. लीकी ने सिद्ध किया है कि ‘पुच्छहीन वानर का मानव से कभी रक्त संबंध नहीं रहा है। प्रसाद के मनु भी अजर-अमर एवं कल्पायु हैं। श्रद्धा को उन्होंने गांधार प्रवासिनी कहा है- (इधर रह गंधर्वों से देश-) वैज्ञानिकों के मतानुसार यह होमोसैपियन- क्रोमैगनन जाति है। इसकी प्रमुख तीन विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है-

1. लम्बा शरीर,
2. कला प्रेम,
3. यायावरी प्रकृति।

प्रसाद की श्रद्धा पर ये तीनों तथ्य घटित होते हैं। कवि ने ‘बाह्य उदार’ एक लम्बी काया उन्मुक्त कहकर उसके दीर्घ दृष्ट पुष्टांग का संकेत दिया है। वह अतिशय कलामयी भी है। उसके ही शब्दों में-

‘भरा था मन में नव उत्साह,

सीख लूँ ललित कला का ज्ञान-।’

कवि ने उसकी स्थापत्य कला पर्णकुटी-रचना-, संगीत-कला, हस्तकला (वपन कार्य) आदि के भी स्फुट संकेत दिए हैं। यायावरी अर्थात् भ्रमण वृत्ति श्रद्धा की प्रमुख विशेषता है। उसकी स्वीकारोक्ति है-

‘घूमने का मेरा अभ्यास बढ़ा था मुक्त व्योम तल नित्य।’

‘— बढ़ा मन और चले ये पैर —।’

‘— यह जीवन निरुपाय आज तक झूम रहा विक्षुब्ध।’

श्रद्धा के जीवन की यात्रा बड़ी लम्बी है, जो उसकी यायावरी वृत्ति की ही साक्ष्य है। अस्तु इन तर्कों के आधार पर कामायनी में उपलब्ध परिवर्तिता के सिद्धांत की पुष्टि की जा सकती है।

विकासवाद के अन्तर्गत अस्तित्व-संघर्ष का सिद्धांत भी बहुप्रचलित है। कामायनी में हिम प्रलय के ‘अनस्तित्व

के ताण्डव नृत्य' के उपरांत मनु का जीवन जिस प्रकार अपने अस्तित्व को बनाए रखने में व्यस्त हो जाता है—

*'निज अस्तित्व बना रखने में जीवन आज हुआ था व्यस्त।'*

उससे इस सिद्धांत का संकेत मिलता है। मनु जिजीविषा एवं मुमूर्षा से अन्तर्द्वन्द्व ग्रस्त होकर अंततः अस्तित्व रक्षा के लिए ही सन्नद्ध होता है। उसमें जीवन की 'अनादि वासना' पुनर्नवता की प्राप्त करती है, फलतः उसके जीवन में शुद्ध विकास सम्पन्न होता है और उसकी दुर्बलता बल के रूप में परिणत हो जाती है—

*'विश्व की दुर्बलता बल बने—।'*

श्रद्धा के उक्त संदेश गुणार्जन (अर्थात् जीवन संघर्ष में विजयश्री की प्राप्ति) का सिद्धांत (जो विकासवाद का एक महत्वपूर्ण पक्ष है) मुखरित हुआ है। उसने शक्ति समन्वय, शक्ति सम्बर्द्धना और शक्ति के सदुपयोग का प्रेरणास्पद उपदेश देकर जीवन संघर्ष में विजयेषणा अर्जित करने की घोषणा की है, जैसे—

*'शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं हो निरुपाय। समन्वय उनका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाए।'*

*'शक्तिशाली हो विजयी बनी, विश्व में गूँज रहा जयगान।'*

प्रसाद जी ने उपर्युक्त पंक्ति द्वारा नीलो के समकालीन सिद्धांत 'सरवाइवल ऑफ दि फिटिस्ट' (योग्यतम का जीवित रहना) की पुष्टि की है। उन्होंने अन्यत्र भी है—

*'है परम्परा लग रही यहाँ, ठहरा जिसमें जितना बल है।'*

कवि ने इस संसृति की प्रगति उसकी 'मंगलमयी वृद्धि' और इस कल्याणी सृष्टि के यथेष्ट संकेत दिए हैं। उसने समाज तथा जीवन के अस्थैर्य एवं वैयक्तिक भेद-प्रभेद के अनेक मत-मतांतर भी प्रस्तुत किए हैं और इस प्रकार सर्जनात्मक विकासवाद को चरितार्थ करने का उपक्रम किया है।

विकासवाद का मनस्तात्विक पक्ष भी कामायनी में घटनीय है। कवि ने व्यक्तित्व विकास की सामाजिक प्रक्रिया में इसका आश्रय लिया है। उसके कुछ कथन इस दृष्टि से उद्धरणीय हैं—

*'अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा।'*

*'अपने सुख को विस्तृत कर लो....।'* आदि।

यह मानसिक विकास विकासवाद का एक प्रमुख पक्ष

है। इसके अतिरिक्त प्रसाद जी के मनु और श्रद्धा का मानवीय भावोदय महत्वपूर्ण है। मनु प्रथम बार चिंता, आशा, वासना आदि मनोभावों से ग्रस्त होता है। प्रमाणार्थ कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत्य हैं—

*'ओ चिंता की पहली रेखा—'*

*'यह क्यों मधुर स्वप्न सी झिलमिल— आशा बनकर प्राण समीर।'*

*'अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण— —।'*

*'नव हो जगी अनादि वासना — —।' आदि।*

श्रद्धा में भी स्त्री सुलभ अनेक अनुभूतियाँ प्रथम बार जाग्रत होती हैं, जैसे— लज्जा, वात्सल्य आदि। लज्जा की प्रथमानुभूति होने पर वह उस अलक्ष्य भाववृत्ति को संबोधित करती हुई कहती है—

*'तुम कौन हृदय की परवशता—'*

*'— — परंतु बताओ तो मेरे जीवन का पथ क्या है?—'*

मनु तथा श्रद्धा इस अन्तःप्रकृति के नवबोध के साथ— साथ बाह्य प्रकृति एवं उसकी विभिन्न क्रियाओं का भी कुतूहलपूर्ण परिचय प्राप्त करते हैं। वे प्रथम बार प्लावन पुनःसृष्टि, उषा, संध्या, निशीथ, शरद, वसंत, पावस आदि के दर्शन करते हैं। मनु कर्म, ईर्ष्या, संघर्ष, निर्वेद आदि भावों के प्रथम आश्रय हैं। उनमें प्रथम बार भयोपासना आस्तिक्य बुद्धि और समरसता (मेंटल इक्युवलिब्रियम) का प्रवेश होता है। तभी वे विस्तारिता, उन्मुखता एवं समन्वयशीलता से प्रेरित होते हैं। मनु द्रव्य से जीवन, जीवन से मानस और मानस से आत्मन् की ओर संचरित होते हैं। महर्षि अरविंद के अनुसार— 'चिरशक्ति का यह उन्नयन ही विकास' है। विकास की कभी न रुकनेवाली प्रक्रिया चक्रात्मक गति से शरीर से विनिर्गत होकर अपने सहज क्रम में परात्पर सत्ता तक परिव्याप्त हो जाती है। विकास के सोपानों का आरोहण कर विश्व के प्रत्येक अणु-परमाणु का आध्यात्मिक चेतना से ओतप्रोत होना स्वाभाविक है। कामायनीकार ने आनंद शिखर का आरोहण तथा त्रिपुरा रहस्य का उद्घाटन करके एक ओर खगोल ज्ञान (अंतरिक्ष विज्ञान) का प्रतीकात्मक रूप में पूर्वाभास कराया है और दूसरी ओर इसके द्वारा आध्यात्मिक विकास की पुष्टि की है, जिसे विकासवाद की चैतन्यवादी एवं

प्राणवादी विचारधारा कहा है। इसलिए कवि ने इस कृति को मानवता का मनोवैज्ञानिक इतिहास (आमुख) कहा है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यह स्थापित किया जा सकता है कि कामायनी में भौतिक तथा आध्यात्मिक विकासवाद के पर्याप्त अभिलेख हैं। कवि ने इसीलिए इस कथा को लाखों वर्षों का विस्तार दिया है। चिंता सर्ग में प्रलयकाल है, आशा सर्ग में पुनःसृष्टि का वर्णन है, संघर्ष सर्ग में 21वीं सदी है और रहस्य से आनंद सर्गों में अगली लगभग तीन शताब्दियों की भविष्य कथा है। भूत, वर्तमान और भविष्य को मिलाकर कामायनी काव्य रचा गया है। वह केवल भौतिक विकास का ही नहीं, 'चेतना के विकास का सुंदर इतिहास' है। उसके प्रतिकार्यों—गूढ़ार्थों को समझने के लिए छायावादी काव्यरूढ़ियों और अर्थ बिम्बों का अभ्यास करना होगा। मुक्तिबोध प्रखर चिन्तक तो थे, किंतु पूर्वाग्रह प्रेरित थे और छायावाद के सही अर्थापन के अभ्यस्त नहीं थे। वे समकालीनता से अंधे थे। यही सीमा दिनकर जी की थी। पंत जी प्रतिस्पर्धी थे। इन सबमें 'जो मैं कामायनी लिखता' में अपनी आकुलता व्यक्त की है किंतु 'उर्वशी' और 'लोकायतन' में सनातन प्रतीकों की विकास कथा लिखकर भी कामायनी का अतिक्रमण नहीं कर पाए हैं। यह केवल द्रष्टा कवि के लिए ही संभव है। वस्तुतः कामायनी कालजयी कृति है। इसे आस्थापूर्वक ही समझा जा सकता है, न कि सामंती व्यवस्था और पूँजीवादी—मार्क्सवादी फार्मूलों द्वारा। कामायनी के मर्म को न समझ

पाने के कारण ही कई समीक्षकों ने उसे यूटोपिया कह दिया है। यह यूटोपियायी फैन्टेसी तो मुक्तिबोध में भरी पड़ी है।

प्रसाद जी ने मानव की युग यात्रा विषयक अनेक तथ्य दिए हैं, जो विज्ञान सम्मत भी हैं और पुराणोपनिषद् से प्रभावित भी। कवि जीवन के अनुषंग को विकासोन्मुख दिखाया है। प्रस्तुत कृति में विकासवाद संबंधी यथा प्रसंग क्रमबद्ध निर्वाह कहीं-कहीं बाधित भी हो गया है, फिर भी इतना निश्चित है कि इसकी कथा-योजना जहाँ इतिहास, पुराख्यान, मिथक, दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि से सम्बद्ध है, वहीं विकासवादी नींव पर भी आधृत है। प्रागैतिहासिक तथ्यों के कारण इसमें कल्पना का प्रचुरांश है और पुराविद्या का भी। कवित्व के आग्रहवश विकासवाद की वैज्ञानिक, टेक्निकल या बौद्धिक जटिलता को यहाँ अर्हता भी नहीं दी गयी है। कामायनीकार ने तो उक्त सिद्धांत की काव्यात्मक पुष्टि की है।

*'मन जब निश्चित सा कर लेता कोई मत है अपना।*

*बुद्धि दैव बल से प्रमाण का सतत निरखता सपना।'*

*'— सदा समर्थन करती उसकी तर्कशास्त्र की पीढ़ी।'*

सम्भव है पूर्वाग्रह प्रेरित होने से कामायनी में विकासवाद का पुष्टीकरण स्वीकार्य प्रतीत न हो तो भी कामायनी में विकासवाद की संभावना विचारणीय है और अन्ततः यह स्वीकार्य है कि यह गत आगत-अनागत तीनों से जुड़ा काव्य है।

संपर्क: 09451123525

## कवि की प्रतिभा: अंदर्भ शलभ श्रीराम सिंह

विजय बहादुर सिंह

शलभ के व्यक्तित्व से मेरा परिचय एक गीत गोष्ठी में हुआ। तब तक मैं एम.ए. फाइनल का इम्तहान देकर अपने महानगर कलकत्ता आ गया था। वहाँ के चौरंगी होटल के ऊपर वाले कक्ष में 'वंशी और मादले के कवि ठाकुर प्रसाद सिंह के स्वागत में 'परम्परा' पत्रिका वालों ने यह गोष्ठी आयोजित की थी। स्थानीय गीत और ग़ज़ल के कई कवि/शायर अपनी-अपनी रचनाएँ सुना रहे थे। पर जिस एक कवि ने मेरा ध्यान खींचा तब उसका नाम श्रीराम सिंह 'शलभ' था। ढेर सारे शलभों की भीड़ देख कुछेक दिनों में ही उसने अपने कवि- नाम को मूल नाम के आगे लगाकर शलभ श्रीराम सिंह कर लिया जिससे कि उसका विशिष्ट व्यक्तित्व एक जैसे उपनामों की भीड़ में औसत न महसूस किया जा सके। यह किस्सा चूँकि मेरी जानकारी में और मेरे सामने हुआ था इसीलिए यह कह सकता हूँ कि भीड़ में औसत समझ लिए जाने से उसे सख्त चिढ़ थी जैसे कि ग़ालिब या निराला को थी। ग़ालिब ने लिखा- पूछते हैं वो कि ग़ालिब कौन है? और निराला ने लिखा- 'समझ क्या वे सकेंगे भीरु मलिन मन'। शलभ का आत्मविश्वास भी कुछ ऐसा ही था।

इन पंक्तियों को पढ़ता हूँ तो 'आत्मबोध' शब्द समझ में आने लगता है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रसाद जी ने अपने पात्र चाणक्य से कहलवाया है- व्यक्ति को अपनी छिपी हुई शक्तियों को पहचानना भी आना चाहिए। शलभ को यह 'पहचान' कुछ ज्यादा ही थी जो कभी-कभी उसके अहं भाव को बढ़ा दिया करती। यों परम्परागत शास्त्रों में प्रतिभा के ऐसे कोई विलक्षण अर्थ तो नहीं दिए गए हैं। यों भी शास्त्र तो अनुभव और विचार के बाद ही रचे जाते हैं। आगे शायद कोई अकादमीशियन आए और इस विलक्षण भाव को परिभाषित करे। पर इससे तो शायद ही कोई असहमत हो कि प्रतिभा नामक काव्य-शक्ति प्रसामान्यता को ही जन्म देती है और शलभ में यह असामान्यता कोई कम नहीं थी। दशक जीवों कवियों के बीच फँसकर कभी-कभी वह कह भी बैठता था- मैं दशक जीवी कवि नहीं हूँ। मेरा नाता समूची परम्परा से है और मेरी प्रतिस्पर्धा



भी परम्परा में प्रतिष्ठित प्रतिभाओं से है। जब वह प्रतिभाओं की बात करता है तो केवल हिंदी नहीं उर्दू शायरों के नामों का जिक्र भी किया करता। मसलन ग़ालिब, फ़ैज, फ़िराक़। पर जिस एक शायर के जैसा वह दिखना और होना चाहता था उसका नाम मजाज़ था।

उसके साथ बाईस-चौबीस साल की अपनी दोस्ती के बल पर कह सकता हूँ कि मजाज़ में जो रोमान्टिसिज़्म था, वह भी उसे खूब भाता था और विद्रोह तो ख़ैर उसमें था ही। हिंदी में वह इस तत्त्व को सबसे अधिक निराला में महसूस किया करता था। मजाज़ को लेकर उसने जो नज़्म लिखी है उसे पढ़कर आसानी से महसूस किया जा सकता है कि मेरी बातों में कितनी सच्चाई है। बतौर प्रमाण इन पंक्तियों को पढ़ा जा सकता है—

वह कि आवारा भटकता रहा जो सड़कों पर

इसे न भूल कि सब तुझमें ढल गया है वह।

बशक्ले आगे तेरी नफ़सियत में जिंदा है

अब अपने वक्त से आगे निकल गया है वह॥

‘मजाज़ की नज़्में’ निगाह दर निगाह से, पृ. 41

मुझे एक घटना भी इस वक्त याद आ रही है। शाम का समय था। हम दोनों विदिशा की सब्जी मण्डी और लोहा बाज़ार से हेकर गुजर रहे थे तभी उसके खयाल में यह शेर उभरा—

नाज़ शहज़ादि-ए-ग़ुलशन के अदा सहराई।

मीर से गोया कि ग़ालिब की ग़ज़ल टकराई॥

उसने कहा, ‘देखो! मैंने दोनों को कैसे एक साथ पंच किया है। मीर तो मीर थे ही पर ग़ालिब कौन कम थे। नाम ही था ग़ालिब। और ग़ालिब ने अगर प्रतिस्पर्धा की भी होगी तो सिवाय मीर के और किसके साथ की होगी। बाकी तो उनकी गिनती में आते ही नहीं थे। ‘शलभ’ भी करता था तो मीर-ग़ालिब, फ़ैज और फ़िराक़ जैसों से ही और मेरी अपनी समझ से यही करना भी चाहिए। प्रतिभा का संवाद तो प्रतिभा से ही होता है।

अब तक मेरे विवेचन से शायद यह इम्प्रेसन बन गया हो कि शलभ श्रीराम सिंह तो हिंदी के कवि नहीं, उर्दू के शायर और नज़्मकार हैं। पर ऐसा नहीं है। उसका ज्यादातर काम तो हिंदी में है और दुष्यंत की तरह वह भी हिंदी का

कवि है पर इस सावधानी के साथ कि जब वह उर्दू में उतरता है तो उसी परम्परा की पहचान बनने की अभिलाषा रखता है। यह और बात है कि देवनागरी में उर्दू की किताबों के छपने से वह आज तक भी उर्दू वालों की पहचान से वंचित रहा। तब भी जो दो चार सम्पर्क और संवाद हुए उर्दू वालों ने उन्हें सर-आँखों पर बिठाया और मान दिया। त्रिलोचन शास्त्री यों ही नहीं कहा करते थे कि शमशेर उर्दू उस्तादों से सहमते रहते हैं। पर अपना शलभ तो उनके अखाड़े में ताल ठोंक कर खड़ा हो जाता है और उसमें कुछ झूठ भी नहीं था। पर हिंदी कविता के कवियों के संदर्भ में नागार्जुन का यह कहना भी याद रखना होगा कि ‘शलभ का अपना अलग गोत्र है।’ समकालीनों से वह बिल्कुल अलग है।

ठाकुर प्रसाद सिंह वाली गोष्ठी में उसने जो नवगीत सुनाया था वह यही था—

धरे हथेली गाल पर

सोच रहा हूँ कल की बातें... गए वर्ष की कुछ तस्वीरें

झूल रही दीवाल पर....!

कविता के इस बिम्ब पर सोचना शुरू करता हूँ तो सबसे पहले ‘कामायनी’ के चिन्ता सर्ग के ‘मनु’ याद आते हैं— चिन्ता करता हूँ मैं जितनी उस अतीत की उस सुख की...। लगता है यह कवि भी अतीत के किसी सुख की याद में डूबा हुआ है। लेकिन उम्मीद से भरा हुआ भी कम नहीं है। जरा इन पंक्तियों पर गौर करें—

गए क्षणों की पगध्वनियों को झेल रहा है कुहरा

मैं आवाज लगाने को हूँ— दिया साँझ का मना रहा

कहता— ठहर! न गुहरा

देख कि कल तक घुटनों के बल चलने वाला चाँद

आज बाँटने स्वप्न रुपहले-क्षितिजों के झुरमुट से उभरा

ठण्डी हँसी उछाल कर। धरे हथेली गाल पर...।

इन पंक्तियों में केवल अर्थ की बारीकी नहीं शिल्प की बारीकी भी है। नाटकीयता तो है ही नवबिम्बों की लड़ियाँ भी हैं— घुटनों के बल चलने वाला चाँद, चाँद का ठण्डी हँसी उछलना, या फिर रुपहले स्वप्न बाँटने निकल पड़ना। घुटनों के बल चलने वाली कल्पना कितनी अभिनव और अपूर्व कवि की प्रतिभा की एक पहचान उसकी ऐसी ही

कल्पनाओं के बल पर की जाती है।

कल जैसा था, था; पर आने वाला कल भी कोई कम नहीं होगा। कवि शायद 'आँसू' के कवि की तरह किसी रोमानी अनुभव को याद कर रहा है क्योंकि कविता के पहले टुकड़े में— 'बिस्तर पर सिलवटें— सिलवटों पर सिगरेट की छाई/ हाथ उठाऊँ— इससे पहले ठमक गई है डोट किसी के/ नाम— कढ़े रूमाल पर।' इस तरह के बिम्ब हैं। मध्यवर्गीय जीवन के रोजमर्रा तो नहीं पर कभी-कभी का अनुभव यहाँ है। कलकत्ता जैसे महानगर में अपनी सुबह-शाम गुजारते हुए शलभ की कथित तौर पर नवगीत कविता में रोजमर्रा के जीवन-अनुभवों के बहुसंख्यक दृश्य-बिम्ब हैं। महानगर की भीड़भाड़, भागमभाग, परिवार और काम की जगहों का दायित्व अकेले आदमी के कंधों पर बोझ और उससे पैदा होने वाली ऊब और थकान के जीवन बिम्ब भी यहाँ खूब हैं।

शलभ अपने साथी नवगीत कवियों से जहाँ अलग पड़ते हैं वे जगहें यही हैं। किन्तु काव्यानुभवों की जमीन पर वे प्रवासी होकर भी ग्राम-ग्रस्त या ग्राम-विमुग्ध कविता बिल्कुल नहीं है। तब भी गाँव का खुला- फैला जीवन वहाँ की निश्छल आपसदारी, उन्मुक्तता, खेत-खलिहान, दूर-दूर तक फैली हरियाली से लहलहाते सिवान, पशु-पंछी, नदी पोखर, होली-दिवाली, लेक-समाज की अपनी आध्यात्मिकता संयुक्त परिवार, ऋतुएँ और मौसम, आपस का उठना-बैठना पारस्परिक सहयोग— ये सब शलभ की कविता में समाज विज्ञान के दस्तावेजी अध्ययन की तरह पूरी प्रामाणिकता के साथ दर्ज हैं। अन्य गीत-कवियों की तरह वे केवल स्मृतिविद्ध कवि नहीं हैं। उनकी स्मरणशीलता में व्यापक लोकलिप्ति और सजगता है। यह और बात है कि अवध अंचल के वे गाँव जब से शहरों के विपैले सम्पर्क में आए हैं उनकी स्वायत्तता और नब्बे प्रतिशत आत्मनिर्भरता लुप्त हो चुकी है। अपने उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' में कथाकार शिप्रसाद सिंह ने बनारस (वाराणसी) अंचल के गाँवों का जिक्र करते हुए लिखा है कि व्यक्ति से लेकर दूध, फल, सब्जी तक जो भी उत्पाद के रूप में सर्वोत्तम है, पास-पड़ोस के शहरों में चला जाता है। जबकि शहरों का उपेक्षित बिस्कुट, साबुन, चाय, मसाले

या फिर सौन्दर्य प्रसाधन शहरीकरण के लोभ में पड़े फैशनेबुल ग्रामीणों के हिस्से आ पड़ा है। शहरों ने गाँवों को अपना ज्यादातर उच्छिष्ट या तलछट ही बदले में दिया है। शहरी जीवन शैली अपनाकर ऐसा लगता है कि गाँवों को न तो खुदा ही मिला न बिसाले सनम।

यह यथार्थ उन किताबी यथार्थवादियों की समझ में शायद ही आए जिन्होंने आजादी के पहले के गाँवों की स्वायत्तता, पारस्परिकता और जीवन जीने की अपनी तार्किक समझदारियाँ नहीं अनुभव की हैं। विकासवादियों की समझ में तो खैर कैसे आएगा जो बगैर किसी समाज और देश को समझे अपने विकास कार्यक्रमों को आँख मूँदकर लागू किए जा रहे हैं। जिन्हें न गाँवों की चिंता है न आदिवासियों की। न उन तमाम लोगों की परवाह जो जानते हैं कि विकास तो मूल का ही होता है। वह प्रगति नहीं है, न ही उसकी प्रक्रिया। शलभ ने अपनी एक कविता 'पृथ्वी के लिए' में ये दर्दनाक पंक्तियाँ लिखी हैं— 'बाँस के फूल साबित हुए हम, साबित हुए केले के फल/पृथ्वी एक दिन मारी जायेगी हमारे ही हाथों/ यही चीख पुकार तो पर्यावरणवादी भी मचा रहे हैं वा विकास के नक्कारखाने में ये चिंताएँ तूती की आवाज भर साबित हो रही हैं। शलभ जैसे कवि इस आधार पर शायद विकास विरोधी या फिर सभ्यता विरोधी या शत्रु कवि के रूप में देखे जायँ पर यह देखना भी मतांध होकर देखना होगा। एक और बात जो कविता में गौर करने की है वह बाँस के फूल और केले के फल वाली है। इनमें फूल आने के बाद तो ये लगभग नष्ट ही हो जाते हैं। यह सूक्ष्म लोकानुभव भी कवि की अपनी विशिष्टता है। ऐसी सूक्ष्म और व्यापक अभिज्ञता की कल्पना तो आज के कवियों से करना मुश्किल जबकि शलभ में यह खूब है।

एक दूरद्रष्टा कवि के रूप में शलभ ने अगर ये चिंताएँ व्यक्त की हैं तो उसका अर्थ है केवल सभ्यता नहीं, प्रकृति और पर्यावरण को लेकर भी कवि की चिन्ताएँ हैं। अन्यथा तो वह जानता है कि खेतिहर जीवन के जैसे आर्थिक दबाव हैं उनमें मजबूरन गाँव छोड़ना पड़ता है और रोजी-रोटी के लिए शहरों की राह पकड़नी पड़ती है। तब भी इस विस्थापन में बहुत कुछ ऐसा छूट जाता है जो छूटकर भी नहीं छूटता।

जैसे कि घर-परिवार, नाते-रिश्ते और प्रवासी के रूप में इनकी याद। शलभ ने अपनी एक कविता में इस प्रकार का एक बिम्ब दिया भी है-

खयालों की सतह पर उभरते हैं ताज!

इस मौसम: किसी परदेश में बसते हुए शाहेजहाँ को समर्पित हो रही है याद में डूबी हुई मुमताज!

और वह शाहेजहाँ ऐसा कि जिसने

कर दिए हैं दप्पन- अपनी जिन्दगी के धड़कते सपने हथौड़ों-आग की लपटों-मशीनों-कारखानों में।

इस रूप में देखें तो शलभ की कविता गाँव से लेकर महानगरों तक के अनुभवों को समेटती है। एक कवि के लिए, उसके अनुभवों की यह अक्षितिज व्याप्ति कोई साधारण बात नहीं है। मजदूर को इस निगाह से देखना केवल शलभ के लिए संभव है। अन्यथा 'ताज' को लेकर उर्दू-हिंदी में लिखी गई कविताएँ तो शहंशासित-विरोधी हैं। ताजविरोधी तो खैर हैं ही। ऐसा सोच और करके वे शायद आलोचक रामविलास शर्मा के इस मत का समर्थन कर रहे हैं कि परम्परा को नकारा नहीं जाता बल्कि अधिक से अधिक उसके प्रति नई रचनात्मक निगाह डाली जाती है जैसा कि हमारा लाल किला भले ही राजतंत्र की देन हो पर जनतांत्रिक व्यवस्था में भी उसका महत्त्व कम नहीं हुआ है। वह हमारी स्वाधीनता के दिन का सबसे बड़ा संवाद-मंच बना हुआ है। इसका मतलब है कि शलभ की प्रगतिशीलता के पीछे एक प्रौढ़ राष्ट्रीय दृष्टि काम कर रही है जिसमें पुरखों से प्राप्त विरासत को नयी निगाह से नवाजा जा रहा है।

ऐसी स्थिति में शलभ ढेर सारे जोशीले प्रगतिवादियों से भिन्न राह अपनाते हैं किन्तु समकालीन यथार्थ के प्रति आँख मूँद कर नहीं। इस संदर्भ में हम अगर उनकी अति लोकप्रिय और चर्चित नज़्म 'घिरे हैं हम सवाल से हमें जवाब चाहिए' को याद करें तो उनकी राष्ट्रीयता और प्रगतिशीलता का चेहरा हमारी समझ में आ जायेगा। पारम्परिक, समकालीन और तत्कालीन के बीच क्या कैसा संबंध हो सकता है और कवि की क्या भूमिका इन यथार्थों को लेकर होगी, इस पर शलभ जैसे कवि जो काव्य-व्यवहार अपनाते हैं उसे चुनौती नहीं दी जा सकती। अपने

समकालीनों द्वारा खींची गई तमाम संकरी सीमा रेखाओं को पीछे छोड़ते हुए उनकी काव्य-दृष्टि प्रत्येक स्थिति में अतिक्रमण करती है। प्रश्न चाहे वैचारिक यथार्थवाद का हो या फिर भावनात्मक स्वच्छंदतावाद और लय-संगीत का प्रश्न हो या फिर निर्बन्ध मुक्तवृत्त कविता का शलभ ने शायद ही कभी कोई सीमा रेखा खींची हो बल्कि प्रत्येक के पास वे निराला या नागार्जुन की तरह यथाभाव संचारित होते रहे। यह उनकी समर्थता है।

आज के ढेर सारे जाने-माने दशकधर्मी कवियों ने या तो अपनी अक्षमता के चलते या फिर किसी समकालीन मानसिक रूढ़ि के चलते यह मान लिया है समकालीन जीवन यथार्थ की अभिव्यक्ति छंदोबद्धता में नहीं ही की जा सकती। ऐसे सारे कवियों के लिए आधुनिक हिंदी कविता के कई महान और दिग्गज कवि अपनी स्वच्छन्द काव्य-शैली के बल पर उदाहरण बन कर खड़े हैं। 'अकाल' जैसी महत्त्वपूर्ण कविता तो छंदोबद्ध ही है। 'सतपुड़ा के जंगल' जैसी भी। कविता प्रथमतः तो भावोन्मेष ही है, और यह प्रायः छन्दबद्ध ही है। रामायण-महाभारत, मेघदूत, कुमारसंभव या फिर जयदेव, विद्यापति, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी की यह परम्परा हमें याद दिलाती है कि छंद-संगीत केवल कवि की ही नहीं, समूचे लोक की उपलब्धि है और इसे नकार कर हम अपनों को ही नहीं, लोक को भी नकारते हैं। शलभ जैसे कवियों ने परम्परा-बोध के बल पर यह संज्ञान विकसित कर लिया है जिसे कतिपय आधुनिकतावादी कवि स्वयं अपने आग्रहों के चलते अँखुवा तक नहीं पा रहे हैं।

मैं यह नहीं कह रहा कि श्रेष्ठ कविता मुक्तगद्यवृत्त में लिखी नहीं जा सकती, न ही मैं इस तरह उसे नकार ही रहा हूँ पर यह कौन सोचेगा कि रवीन्द्रनाथ और निराला जैसे कवि कैसे यह समझ पाए कि कवि की वाणी का निर्बाध प्रसार तो बीसवीं शताब्दी में छंदबद्धता को झुठला या नकार कर नहीं किया जा सकता। शलभ ने अगर सीखा है तो इन्हीं महानों को पढ़ और देखकर सीखा है। बाँगला तो उसे पर्याप्त आती ही थी। अनुवादक के तौर पर वह अपनी गुणवत्ता दिखा ही चुका था। तब रवीन्द्रनाथ, गालिब, फ़ैज और फ़िराक या फिर निराला और नागार्जुन

अगर छंद की संभावनाओं का प्रदर्शन कर रहे हैं तो उसका एक बड़ा प्रयोजन कवि-वाणी की प्रेषणीयता है जो जन-जन तक उसके अपने काव्य संगीत तक जो वस्तुतः परम्परा से उसके अपने संस्कारों में रचा-बसा है- पहुँचकर एकाकार हो सकते हैं। कविता या कला की सार्थकता और सिद्धि तभी है जब वह लोक की अपनी भावनात्मक थाती बन सके। शलभ की ग़ज़लों और गीतों में यह खूब है।

एक और महत्वपूर्ण बात जो किसी कवि को अनन्य बनाती है वह है उसकी संवेदना। आचार्य शुक्ल इसे कवि की भावुकता या सहृदयता कहते हैं। सहृदयता की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं- 'सहृदयता वीर्यविक्षोभात्मक होती है।' इसका अर्थ है मन या चित्त की आशु द्रवणशीलता। सृष्टि के किसी भी रूप और व्यापार पर जो कवि जितनी तरल और आशु प्रतिक्रिया करता है, वह उतना ही बड़ा रसिक या भावुक है। शलभ के संदर्भ में देखें तो उनकी कविता में शैशव, नटखट बचपन, रूप और आकर्षण से भरा यौवन, प्रेम और सौन्दर्य घर-गृहस्थी, दाम्पत्य और उसकी अनेक भंगिमाएँ, गाँव और लोकांचल, पशु-पक्षी, मौसम और ऋतुएँ, देश और समाज, राजनीति और दर्शन महानगर का व्यस्त और तंगहाल मध्यवर्गीय जीवन, अपने देश की राजनीति को लेकर उभरता विस्फोटक क्षोभ नक्सलवादी और सरकार, या फिर नया जीवन-यथार्थ शायद ही कोई ऐसा अनुभव-क्षेत्र हो जिसे शलभ की संवेदना ने न छुआ हो। नटखट बचपने पर सूरदास तो उस्ताद कवि हैं ही, सुभद्राकुमारी चौहान भी हैं पर शलभ के अनुभव तो शलभ के ही अनुभव हैं-

पेड़ आम के, जिनके नीचे हम पढ़ते थे  
वे टीले, जिन पर हम दौड़-दौड़ चढ़ते थे  
सरसों के खेतों के बीच-दूर तक जाती  
एक राह-चलती थी जिस पर शलवार पहिन  
नीले रंग वाली- वह दुबली सी कन्तिया!  
चरवाहों को गुहार कर कहता था, 'देखो!  
पढ़निहार लड़की वह आ गई'- तुरन्तिया!

इस कविता को पढ़ते हुए एक विस्मृत होता जाता लोक यथार्थ तो याद आता ही है गाँवों का नटखट, स्वच्छन्द और उन्मुक्त बचपन भी याद आता है। अवध के उसी अंचल

के बड़े कवि त्रिलोचन की कविता- 'चम्पा काले अक्षर नहीं चिन्हती' वाले यथार्थ से एक कदम आगे का लोक यथार्थ है जहाँ 'कन्तिया पढ़निहार जो है।'

दाम्पत्य का गंभीर वर्णन भी शलभ ने किया है। वह विविध है पर ग्रामीण जीवन में प्रवासी पति और उसकी मूक प्रतीक्षा करती विरहिणी की ओर से जैसा संदेश भेजा गया है वह तो अद्भुत है ही, उसके इस दुख में समूचा परिवार भी शामिल है-

हर बरस की तरह फिर इस साल  
बंद है पीले लिफाफे में  
एक नन्हा गीत-एक मीठी याद  
एक चुटकी रंग और गुलाल!  
... ..  
खत कि जिसमें लिखा है  
आती नहीं नींद सारी रात!  
दोपहर को काम-धंधे से निपटकर  
भाभियाँ सब घेर लेती हैं  
और बरबस ही चलाती हैं तुम्हारी बात!  
रात सोते समय माँ ने भी कहा था:  
आ गई होली- न आई लड़िकऊ की अभी पाती  
आज तक पाया नहीं कुछ हाल!  
हर बरस की तरह.....!

समकालीन कविता को पढ़ते हुए मेरे जैसे पाठकों को कभी-कभी चिंता हो उठती है कि अगर बौद्धिकता और इकहरी वैचारिकता ही सूर और तुलसी की भी कविता में होती तो क्या हम उन्हें बड़ा कवि मान पाते? वे बड़े हैं तो उस जीवन-यथार्थ और जीवन-सत्य के चलते बड़े हैं जहाँ जीवन किसी एकांगी बौद्धिकता और इकहरी वैचारिकता का नीरस प्रवचन होकर नहीं रह गया है। यह भी कि कविता में केवल राजनीति ही सबसे बड़ा सच नहीं होती। अगर होती तो प्रेमचंद को यह कहने की जरूरत क्यों पड़ती कि साहित्य उससे आगे की बात है। वह ऐसी मशाल है जिसमें सबके चेहरे समझे, जाने और पहचाने जाते हैं। आज के अधिकांश कवियों को पता नहीं क्या हो गया है, ठीक रीतिबद्ध कवियों की तरह कि उनके लिए राजनीति प्रतिबद्धता की चीज हो गई है। (सो भी ऐसी जो इन दिनों

अपनी विश्वसनीयता लगभग खो चुकी है) और विचारधारा ही जीवन का सबसे बड़ा सच।

शलभ ने इस मत को शायद ही कभी माना हो। ऐसा भी नहीं कि उनमें आग ही नहीं थी बल्कि जानने वाले जानते हैं कि जरूरत से कुछ ज्यादा ही थी। जिन्हें देखना आता है वे उनकी अतिप्रिय नज़्म 'जिन्दाबाद! इंकलाब' की पंक्तियों नफ़स-नफ़स... में देख-परख सकते हैं या फिर नक्सलियों के क्रूर अमानवीय दमन पर लिखी इन पंक्तियों में-

उड़ रहे हैं सर-ब-सर बाग में बुलबुलों के पर!  
बाज़ के बर खिलाफ़ कब तोते करेंगे टायँ टायँ!!  
दारोरसन तलक 'शलभ' आये हैं चलके आप हम!  
ख़्वाब से इन्कलाब तब आप भी खुद को लायँ-लायँ!!

-राहे हयात से

ये भी शलभ के ही अल्फ़ाज हैं-

मैं हूँ 'शलभ' मज़मूने- बगावत!

बज़्म-सुखन की दाद नहीं हूँ!!

-निगाह दर निगाह से

प्रेम और सौंदर्य की कोमल जीवन-छवियों से लेकर बगावत (विद्रोह) और क्रांति तक फैली-व्यापी शलभ की संवेदना यह प्रमाणित करने में पर्याप्त है कि उनका व्यक्तित्व इकहरे कवियों जैसा नहीं है। उनमें जितना वैविध्य है उतनी ही व्यापकता भी है। गहराई भी शायद ही कहीं कम हो। ऐन्द्रियता से लेकर संदेशकारी दार्शनिकता और आध्यात्मिकता तक उनकी कविता कुछ इस तरह संचरण करती है जैसे कि यह सब सहज है। मैं नहीं कहता कि शलभ एक दार्शनिक या आध्यात्मिक कवि हैं पर जब कभी वे इस अनुभव-प्रदेश में आते हैं, समूची परम्परा का जानी-पहचानी अनुगूँजें हमें उनकी अपनी अभिव्यक्ति की मौलिकता के साथ सुनाई देती हैं-

जलकुम्भी गंगा में बह आयी है!

यहाँ भला कैसे रह पायेगी हाय।

बँधे हुए जल में जो रह आई है।

... ..

मइया बोल अरी ओ माया!

ठेहुना भर पानी मुँह तक आया

नीले जल वाला तालाब बहुत गहरा है!

आज-अभी तो हम-तुम डूबेंगे!

कल-गुलाब-सोनजुही- जवाकुसुम डूबेंगे!

डूब गई तट के नरकुल गाछों की छाया!

कुहरे में-केरे का पात-पात ठहरा है!

इन पंक्तियों को पढ़ते ही बरबस ये पंक्तियाँ चेतना में गूँजने लगती हैं-

माली आवत देखि कै कलियाँ कहैं पुकारि।

फूली-फूली चुनि लई काल्हि हमारी बारि।।

कवि की संवेदना के इस विविध और व्यापक अनुभव प्रदेश की यात्रा करते हुए ढेर सारे डिटेल्स छोड़ भी दिए गए हैं किन्तु ईमानदार पाठक तो सिर्फ अपने आलोचक पर निर्भर नहीं करता। खुद पाँव-पाँव चलकर ये यात्राएँ करता है। बहुकोणीय कवि की ज़मीन पर प्रत्यक्ष उतर कर ही उसका स्वरस लिया जा सकता है और इसके लिए जितनी जिज्ञासा जरूरी है, उतना ही धीरज और अध्यवसाय भी। शलभ ने मुझे अगर अपने आकर्षण-पाश में बाँधा तो उसका एक कारण जो अब समझ में आता है, वह उनकी विलक्षण काव्य-भाषा है जो नगरीय-महानगरीय होकर भी बोली के आंचलिक काव्य-पदों से अलंकृत है। जिन दिनों नई कविता की काव्य-भाषा इलाहाबादी कवियों की ठेठ शहरी या नगरीय काव्य-भाषा बनकर रह गई थी, उसके चार-छह सालों या कहीं बीसवीं सदी के सातवें दशक में शलभ जैसे कवियों ने हमें आगाह किया कि बोली के प्रयोगों और मुहावरों को त्याग कर हम अपनी भाषा की जीवन्तता और रसमयता ही समाप्त कर बैठेंगे। वे इस बात से आतंकित नहीं हुए कि इलाहाबाद शहर के पढ़े-लिखे कवियों की स्टैण्डर्ड हिंदी के चलन के सामने उन्हें आंचलिक प्रयोगों से काम लेना चाहिए अथवा नहीं। बाद में धूमिल ने तो अपनी काव्य-भाषा का राज्य इसी बल पर स्थापित किया। पर यह अगुवाई तो शलभ कर चुके थे। 'कनई-नहाये मोर' या 'यह झंडोले बाल बाली, दँतुलियाँ बाहर निकाले आदि प्रयोगों ने मुझे शलभ का मुरीद बना लिया था। यह तो मैं जानता ही था कि चाहे विद्यापति हों, चाहे जायसी, सूर-तुलसी या फिर कबीर, मीरा आदि ये सब बोली के अपने कवित्व के बल पर आज तक हमारी



जीवन्त विरासत बने हुए हैं। शलभ ने इस रहस्य को अपने काव्यारम्भ में ही समझ लिया था। किंतु हमें इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि अवध के गाँव के होने के नाते शलभ के लिए यह तो सहज ही था। वे उतनी की सहजता से कथित महानगरीय अथवा आधुनिक काव्य-पदावली का प्रयोग करने में दक्ष हैं। जरा उसी 'झूँडोले बाल वाली' सुबह मेरी है, कविता का दूसरा चित्र देखें जो महानगर का है—

और यह जो अभी लेकर कार भागी है

किसी क्लब में रात भर गिनती रही स्टेप्स

और इच्छा के बिना भरपूर जागी है

इस टुकड़े में भी आगे की एक पंक्ति— 'शाम से ही—चेतना के संतुलन पर रूठ बैठी खुमारी को मनाने के लिए करती चिरौरी' पर भी निगाह पड़ती है कि कवि ने इस आंचलिक पद को यहाँ भी खुमारी के साथ कैसे पंच कर दिया है।

गाँव से लेकर महानगर तक के अनुभवों को समेट और सहेज कर परोसने वाले इस कवि की कल्पना शक्ति भी अद्भुत है। काव्य-संवेदना की तरह उसकी कल्पनाओं का चेहरा भी ठीक उतना ही विविधतापूर्ण एवं व्यापक है। गाँव और लोकांचल के बिम्बों से लेकर कस्बों-नगरों-महानगरों तक के जीवन-चित्र अपनी भरपूर सादगी, सटीकता और व्यंजकता के साथ इस कविता में मौजूद हैं। कहीं

कहीं इन कल्पनाओं का चेहरा गूढ़, जटिल और रहस्यमय भी हो उठा है तो ढेर सारी परवर्ती कविताओं में विचारों के बिम्ब भी खूब हैं। यह तभी संभव है जब कवि में चक्रवर्ती भावुकता हो। और शलभ जैसे कवि की काव्य-प्रतिभा इसे बढ़-चढ़कर प्रमाणित करती है। कहने का आशय यह कि उसकी कल्पनाएँ बेहद ठोस और गतिशील हैं और भाव बेहद सघन और गहरे कवि की कविता का एक पाठक होकर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि सबसे पहले उसकी कविता हमारी खोती-सी जाती जीवन की लयों को हमारी चेतना में पुनर्प्रतिष्ठित करती है। उसकी चिंताएँ हमारी लोक व्यापी चिंताओं को रेखांकित करती हैं। किंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि उसका कवि-कर्म हमारे होने के आत्मविश्वास को अधिक मजबूत और गहरा करता है। इतना ही नहीं यह कविता इस रूप में आद्योपांत मौलिक है कि उसमें मानव-संस्कृति की रक्षा और कामना के भाव के साथ-साथ सभ्यता की अतियों से लड़ने का माद्दा भी है। जरूरत अगर है तो ऐसे जागरूक और सचेत पाठक की है जो अपने संवेदना-संस्कार के बल पर इस कविता की धड़कनों को पकड़ कर अपने-अपने मोर्चों की तलाश कर सकें और मनुष्य के खिलाफ जाने-अनजाने की जाती साजिशों की नाक में नकेल डाल सकें। यह कविता इतना आत्मविश्वास तो हमें देती है और सीख भी।

संपर्क :

29, निराला नगर, दुष्यंत कुमार मार्ग  
भोपाल-462003, मो. 09425030392

## ध्रुवदेव मिश्र पाषाण की पखर्ती काव्य-यात्रा

रामनिहाल गुंजन

यों कवि ध्रुवदेव मिश्र पाषाण सत्तर पार कर पचहत्तर में प्रवेश कर चुके हैं और इस क्रम में उनकी काव्य-साधना भी प्रदीर्घता प्राप्त कर चुकी है। उनकी काव्य-यात्रा, जो 1960 के आस पास आरंभ हुई थी, उसमें भी काफी हद तक विकास परिलक्षित हो रहा है। दरअसल उनकी कविताओं से मेरा साबका 1976 के आस-पास पड़ा था जब उन्होंने अपनी कविता पुस्तक 'विसंगतियों के बीच' (1972) मुझे भेजी थी। बाद में, मैं जब ध्रुवदेव मिश्र पाषाण, शंभुनाथ, आनंद कुमार सिन्हा और डॉ. मीरा सिन्हा द्वारा आयोजित अखिल भारतीय जन साहित्य सम्मेलन में शामिल होने के लिए निमंत्रित किया गया तब उनकी कविता पुस्तक 'कविता तोड़ती है' (1977) की प्रति प्राप्त हुई और बाद में तो उनके सभी काव्य संग्रह मुझे प्राप्त हो गये। और इस प्रकार उनकी कविताओं की जो एक अलग और विरल दुनिया सामने आयी, उससे पाषाण की प्रतिबद्ध और दृढ़ चेतना और दृष्टि का पता चला। चूँकि वह दौर नक्सल कविताओं का था और उस समय हिंदी के कई प्रतिबद्ध कवि वैसी कविताएँ लिख रहे थे इसलिए पाषाण की काव्य चेतना एक प्रतिनिधि कवि के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त थी। इस प्रकार एक दर्जन काव्य संग्रहों की रचना करने वाले प्रखर कवि पाषाण को मैं चार दशकों से अधिक समय से जानने के कारण यह बात निःसंकोच कह सकता हूँ कि पाषाण अपने समय के सर्वाधिक सचेत और जागरूक कवियों में अग्रगण्य रहे हैं।

पाषाण की कविताओं पर मेरा एक आलेख 'धारदार शीशा' (2013) में संकलित है। उसके पूर्व मैंने उनकी पुस्तक 'वाल्मीकि की चिंता' (1991) पर भी लिखा था। पिछले दिनों पाषाण की इधर की कविताओं के प्रकाशक, लक्ष्मण केडिया से उनकी कविता पुस्तक 'पतझड़-पतझड़ वसंत' (2009) की प्रति प्राप्त हुई तो उस पर यानी उसमें संकलित कविताओं पर अलग से लिखने का निश्चय किया। चूँकि ये कविताएँ भिन्न तेवर और मिजाज की हैं, अतः उन पर भिन्न तरीके से विचार करने का औचित्य भी है। इस संग्रह में

उनकी वर्ष 2000 से पहले तक की कुछ प्रतिनिधि काव्य रचनाएँ और 2009 के पहले की रचित कविताएँ शामिल हैं। इन कविताओं से गुजरने पर जो एक बात सामने आती है वह है उनके काव्य संबंधित चिंतन के साथ-साथ जीवन और जगत संबंधी उनके विचारों में प्रौढ़ता और यही बात उनके समग्र रचनाशीलता को एक प्रकार से सुनियोजित और प्रेरित करती है। पाषाण जी अत्यंत संवेदनशील कवि होने के कारण किसी विषय पर पूर्व चिंतन नहीं करते, बल्कि सहसा जेहन में कौंध सी पैदा होने पर रचनारत होते हैं। जिसे स्वीकार करते हुए उन्होंने एक साक्षात्कार के सिलसिले में कहा भी है- “कौंध शब्द मेरी रचना प्रक्रिया में निर्णायक भूमिका अदा करता है। यह सही है कि रचनाकार निजी जीवनानुभूतियों के बीच से ही अपने लिए विषय का चुनाव करता है और वह सहसा जेहन में कौंध जाता है, जिस प्रकार न्यूटन को पेड़ से सेव गिरते हुए देखकर अथवा आर्किमिडीज को नहाते समय अनुभव हुआ, लिहाजा रचना भी एक प्रकार के वैचारिक अन्वेषण की ही उपज होती है जिसके पीछे रचनाकार की चेतना और दृष्टि काम करती है।” यह बात पाषाण जी के बारे में भी लागू होती है। उनके सामाजिक व राजनीतिक सरोकार भी उनकी काव्य संवेदना को जन्म देते हैं तथा उनको एक ऐसे मुकाम पर ला खड़ा करते हैं, जिससे उनकी एक खास पहचान बनती है।

यूँ पाषाण जी का विश्वास परंपरा में भी है और कई अन्य प्रतिबद्ध कवियों की तरह वे मानते हैं कि ‘परंपरा के स्पंदन और प्रगति की टकराहट से ही सार्थक रचनाओं का जन्म होता है।’ (धारदार शीशा, पृ. 160) जहाँ तक कविता के दायित्व का प्रश्न है, इस बिंदु पर भी वे स्पष्ट हैं। उनका मानना है कि ‘कविता का दायित्व-अशिव का प्रतिवाद, बल्कि यूँ कहें कि अशिव का प्रतिवाद कविता का धर्म भी है।’ दूसरे उनका यह भी मानना है कि ‘समकालीन कविता के एक बहुत बड़े हिस्से का व्यर्थ होते जाना आज सम्पूर्ण कविता के सामने यक्ष प्रश्न की तरह खड़ा है।’ इस प्रसंग में उनका यह कथन खास तौर पर गौरतलब है कि “आम आदमी की चेतना का वही अंश कविता बन सकती है जो किताबों से न पैदा हुई हो, जो पुरस्कारों और

आलोचकीय प्रशस्तियों से प्रेरित होकर न लिखी जा रही हो और जिन्दगी के जहोजहद से जुड़कर अभिव्यक्ति हो पा रही हो। मेरी दृष्टि से कविता जिंदगी की संवेदना संवलित अभिव्यक्ति होती है। जब वह रूप से अधिक रूह की आवाज बनती है तभी प्रेरणा बन पाती है। प्रेरणा न बन पाने वाली अभिव्यक्ति कविता का अभ्यास होती है, कविता का दिखावा होती है, कविता नहीं। समकालीन कविता में अधिकांशतः के व्यर्थ हो जाने के कारण प्रेरणा न बन पाना है। इस स्थिति का मूल कारण है सामान्य जनजीवन के सरोकारों से न जुड़कर किसी बड़े मकसद की सक्रियता से वंचित रह जाना। भक्तिकाल और प्रगतिवाद काल की कविताओं का जनोन्मुख होना ही उनकी लोकप्रेरकता का आधार बना। लोक प्रेरक कविताओं की कमी आज भी नहीं है। गोरख पांडेय, शलभ श्रीराम सिंह, अंशतः आलोक धन्वा और गीतकार छविनाथ मिश्र की कविताएँ लोक प्रेरक भी बन सकती हैं।” (उपरोक्त, पृ. 162-163) इसी संदर्भ में उनका यह मानना है कि ‘वर्ग संघर्ष की धार को धीमा करना और वर्ण संघर्ष की विभीषका को बढ़ावा देना एक साजिश है। बुनियादी परिवर्तन के लिए क्रांतिकारी वाम शक्तियों का एका ही एकमात्र विकल्प है’, (उपरोक्त, पृ. 163) जो रेखांकित करने योग्य है। इस प्रकार देखा जाए तो पाषाण की वैचारिक अवधारणा जिससे वे अपनी कविताओं की रचना करते वक्त भी परिचालित होते रहते हैं, उनकी ‘पतझड़-पतझड़ वसंत’ की प्रायः अधिकांश कविताओं में प्रतिबिंबित होती हैं। कुछ पंक्तियाँ देखे-

1. बहुत अच्छा होता है वह दिन  
जब घर-घर को नसीब होते हैं  
रोटियों के साथ नमक, प्याज और मिर्च।

(बड़भागी दिन)

2. थाली के पानी में  
सूर्यग्रहण देखती मेरी माँ  
फिक्रमंद है  
अपने चाँद की सलामती चाहती  
इराकी माँ के लिए (फिक्रमंद माँ)

3. पता नहीं क्यों  
घर-घर की, हीत-नात की

कुशल क्षेम तो तुमने लिख भेजी  
पर  
जिनकी छाया से मन खिलता है  
जिनके संग जीवन पलता है  
जिनको देखे दुख भगता है  
उन सब की खबरें गोल कर गये बिल्कुल ही  
अगली पाती में ध्यान रहे  
आदमी सिर्फ देह नहीं जीता बेटे,  
मन भी जीता है,  
औरों से जिसका मन जितना जुड़ता  
वह उतना अच्छा जन होता है।

(पप्पू की पाती पढ़कर)

4.

प्यार और मौत को समेटती हुई बाहों में  
गरीबों का ब्याह परियों से कराती  
अमीरों को दर-दर भटकाया करती है नौद

(नौद)

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि पाषाण की कविताएँ अपने साथ विचारों की स्फुलिंग लिये चलती हैं जो गैर बराबरी के जंगल में आग लगाने का काम करती हैं। ऊपर की पंक्तियों से जाहिर है कि श्रमजीवी वर्ग को रोटी के साथ नमक, प्याज और मिर्च नसीब होना सौभाग्य का सूचक है। दूसरे, सूर्यग्रहण को थाली में देखने वाली एक माँ की चिंता सुदूर इराक में अपने बेटे की सलामती चाहने वाली ममतामयी माँ के लिए भी है। इसी प्रकार अपने बेटे पप्पू का खत पढ़कर एक पिता को इस बात की चिंता ज्यादा है कि उसने दादा-दादी अथवा बुजुर्गों और पड़ोसियों को याद न कर अप्रत्यक्षतः उनका अपमान किया है। अंतिम पंक्तियों में कविवर पाषाण ने वर्गीय दृष्टि से नौद की भूमिका की ओर संकेत किया है। दरअसल नौद गरीबों के लिए वरदान साबित होती है। कारण कि नौद में सपने देखते हुए वे अपनी सारी आशा, आकांक्षाओं को पूरा होते हुए देखते हैं। दूसरी ओर, एक धनी आदमी सपने में धन के पाने और खोने के स्वप्न देखकर कभी आह्लादित तो कभी निराशा के अंधकार में भटकता रहता है और इस प्रकार वह सुख की नौद कभी नहीं सो पाता। इससे स्पष्ट

होता है कि पाषाण अपनी कविताओं में वैचारिक संगति का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पाषाण के कवि का ध्यान इस तथ्य पर भी विशेष रूप से रहता है कि किस प्रकार देश और समाज में बुजुर्गों वर्ग की जनविरोधी गतिविधियों पर रोक लगायी जाए जिससे व्यापक जनसमुदाय के हितों की रक्षा हो सके। इसके लिए वह कविता की भूमिका के प्रति आश्वस्त दिखता है जब वह यह कहता है—  
देश की हिफाजत के लिए चिंतित प्रजा नफरत करती है  
भूख और बेकारी, भ्रष्टाचार और बलात्कार का इलाज  
लॉटरी और संविधान के फेरबदल में ढूँढ़ने वाले राजा से  
मुनादी का मोर्चा संभालती है कविता (युद्ध प्रसंग)

यों मुनादी का मोर्चा संभालने वाली कविता को देखकर धर्मवीर भारती की 'मुनादी' शीर्षक कविता की याद आना स्वाभाविक है, जो स्वतः स्फूर्त क्रांति की दिशा में गमन करती दिखाई देती है। यही वजह है कि पाषाण की ये कविताएँ ज्यादा सार्थक हैं जो सकर्मक क्रांति की वकालत करती हैं। इस प्रसंग में उनकी वे कविताएँ चर्चा के योग्य ठहरती हैं, जिनके माध्यम से कवि बकौल मुक्तिबोध—  
'अभिव्यक्ति के खतरे उठाने ही होंगे/तोड़ने ही होंगे मठ  
और गढ़ सब' यानी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता बरकस जोखिम की कविताएँ रचने का संकल्प दुहराता है और कहता है—

1. रात यों ही नहीं खत्म होती

यों ही नहीं उगती सुबह

यों ही नहीं चुकती

अंधेरे की औकात (सुबह का होना)

2. दुरुस्त रखने के लिए

ब्रह्माण्ड का कील कांटा

सन्नाटे के चेहरे पर लिखने के लिए

नये मौसम का प्रतिवाद पत्र

गाँठ छोड़ते समय को

इंतजार है आँधी का

(इंतजार)

3. अलग-अलग चलने वाली कलमें

इस्तेमाल की जाती है

कभी झाड़ू की तरह  
कभी रिवाल्वर की तरह।

(कलम का पक्ष)

4. हल की नोंक पर हथौड़े के संकल्प  
वक्त के नासूर का करते हैं इलाज  
संभाल कर ऑपरेशन के औजार  
गूँजती है परिवर्तन की पहली चाप  
कविता में।

(कविता में)

जाहिर है पाषाण की दृष्टि में कविता का वास्तविक हस्तक्षेप अँधेरे को समाप्त करने, ब्रह्माण्ड के कील कांटे को ठीक करने, देश और समाज और दुनिया में बेहतर व्यवस्था लाने के लिए तथा परिवर्तनकामी चेतना को भक्त के मद्देनजर जन जागरण के संदेश में तब्दील करने की दिशा में होना चाहिए, जिसकी ओर उपर्युक्त कविताएँ संकेत करती हैं। पाषाण की एक साक्षात्कार के क्रम में कही गयी इन बातों का इशारा भी इसी ओर है। उनके शब्द हैं- “देश नयी आजादी की लड़ाई की माँग कर रहा है।

अघोषित रूप में भारत की सार्वभौमिकता अमेरिका को समर्पित हो चुकी है। घनघोर राष्ट्रवादी कहलाने वाली शक्तियाँ दिल्ली में बैठकर देश के दिल का सौदा सम्राज्यवादियों के हाथों कर चुकी हैं। समझदार आँखें नई क्रांतिकारी शक्तियों से उम्मीद लगाती हैं और वह उम्मीद पूरी होगी।”

इस प्रकार कहने की जरूरत नहीं कि पाषाण अपनी कविताओं को उस हद तक विकसित कर चुके हैं कि उनकी आगे के काव्य यात्रा की दिशा और दशा भी स्पष्ट हो चुकी है। इस रूप में पाषाण की संभावित रचनाशीलता की कल्पना आसानी से की जा सकती है। यों पतझड़ के बाद वसंत का आगमन जिस प्रकार सुखद प्रतीत होता है उसी प्रकार पाषाण की कविताएँ अपने होने का अहसास कराती हैं। अतः जब भी इन कविताओं का मूल्यांकन उनकी समग्र रचनाशीलता के साथ किया जायेगा तब उनकी इन पंक्तियों से साक्षात्कार हो सकेगा- ‘पतझड़-पतझड़ लड़ते/ ये पेड़/मेरे जमाने में/वसंत के पथ पर है।’ (अथ पेड़ कथा)

#### संपर्क:

नया शीतल टोला, आरा, पिन- 802301(बिहार), मो. 07250201038

#### श्रद्धांजलि

आर. के. लक्ष्मण, कृष्णदत्त पालीवाल, डॉ. तुलसीराम,  
रजनी कोठारी, गिरीश रस्तोगी, राजेंद्र पुरी, विनोद मेहता  
की शेष-स्मृति में श्रद्धावनत् ‘मुक्तांचल’ परिवार।



## कामायनी में समय की अनिवार्य उपस्थिति

डॉ. मीनाक्षी जोशी

साहित्य अपने युग की प्रतिध्वनि होता है। साहित्यकार अपने युग से विमुख रह कर सृजन कर ही नहीं सकता। अतीत, भविष्य और वर्तमान तीनों उसकी कृति में साकार होते हैं। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी आदि महाकवियों की कृतियाँ इस सत्य का प्रमाण हैं। ये सभी कवि अपने युग की उपज हैं। इसी परंपरा की एक कड़ी के रूप में जयशंकर प्रसाद भी हैं; जिनकी 'कामायनी' न केवल उस युग की अपितु वर्तमान युग की भी ज्वलंत-समस्याओं को समेटे हमारे सामने उपस्थित है। 'कामायनी' में कवि ने जिन घटनाओं को अपनी कल्पना की तूलिका से अंकित किया है, वे आज भी युग की समस्याओं में रंगी हुई हैं।

निःसंदेह यदि कामायनीकार को किन्हीं भिन्न युगीन परिस्थितियों में जीवन यापन करना पड़ता तो 'कामायनी' का प्रस्तुत स्वरूप कुछ और ही होता। आज हमें 'कामायनी' में बुद्धिवाद का विरोध, भौतिकवाद का खंडन, निरंकुशता के विरुद्ध क्रांति का उद्घोष एवं नारीत्व श्रद्धा की स्थापना आदि के जो स्वर सुनाई पड़ते हैं, वे युग प्रभाव के ही सूचक हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों की निरंतर बढ़ती हुई उन्नति से आज मानव-मानव के बीच जो दूरियाँ बढ़ गयी हैं, जिसके कारण मनुष्य अत्यंत स्वार्थी हृदयशून्य होकर यांत्रिकता के चक्र में पिसता जा रहा है उस समय भी इन सब स्थितियों का आरंभ था, जिसे देखकर प्रसाद का हृदय आंदोलित हो उठा था। परिणामस्वरूप उनकी लेखनी से निःसृत हो उठी 'आनंदवाद' के पथ का प्रदर्शन करने वाली 'कामायनी'।

नारी का गरिमामय उदात्त स्वरूप यदि आज नारीत्व के गुणों से रहित मलिन और अवदमित न हो गया होता, तो उसके दिव्य-गुणों की विभूतियों से परिपूर्ण 'श्रद्धा' का चरित्र अंकित करने की प्रेरणा प्रसाद जी को न मिलती। शासक वर्ग की मनमानी यदि चरम सीमा पर न पहुँच गई होती और उनकी अधिकतम भोग-लालसा यदि प्रबल न हो गई होती तो क्रांति विप्लव द्वारा निरंकुशता एवं अबाध अधिकार का विरोध भी कवि ने न किया होता। वस्तुतः 'कामायनी' में जिन काल्पनिक घटनाओं की सृष्टि हुई है वह यथार्थ के धरातल पर ही प्रतिष्ठित है। आधुनिक

बुद्धिवादी युग के प्रभावों एवं समस्याओं का वर्तमान रूप ही 'कामायनी' में परिलक्षित होता है। इस कृति में जहाँ एक ओर आदि मानव 'मनु' और आधा नारी 'श्रद्धा' की कहानी है, वहीं दूसरी ओर वह आज की परिस्थितियों में शांति और सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए तथा समाज-कल्याण के लिए भौतिकता एवं आध्यात्मवाद का मणि कांचन संयोग की आवश्यकता का संकेत भी है।

जिस समय 'कामायनी' का सृजन हुआ, उस समय भारत पराधीन था। ब्रिटिश शासक वर्ग ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए हर प्रकार के उचित-अनुचित तरीके अपनाए। निरीह प्रजा इन अत्याचारों को चुपचाप सहन कर रही थी, पर भीतर ही भीतर आक्रोश बढ़ता जा रहा था। शासक और शासित की यह समस्या प्रसाद जी की नजर से अछूती न रही। मनु की निरंकुशता, शोषण तथा अबाध अधिकार लिप्सा क्या आज के शासकों से भिन्न है? मनु की वाणी में वर्तमान सत्ता-लोलुपों का प्रतिबिंब स्पष्ट दिखता है-

*“मैं शासक मैं चिर स्वतंत्र तुम पर भी मेरा  
हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा।”*

आज मानव जीवन अनेकानेक जटिलताओं उलझनों और वैषम्यों से ग्रस्त दिखाई देता है। 'कामायनी' में श्रद्धा के माध्यम से प्रसाद जी ने इन समस्त समस्याओं से मुक्ति की राह भी दिखाई है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी लिखते हैं- “जीवन के वास्तविक विरोध को श्रद्धा की मूलवर्तिनी सत्ता द्वारा अपहृत कर जीवन में समरसता और समन्वय स्थापित करने की अपूर्व आशाप्रद कल्पना प्रसाद जी ने कामायनी में की है।”<sup>1</sup>

वर्तमान जीवन में सबसे बड़ी विषमता सुख-दुख को लेकर दिखाई देती है। 'कामायनी' के नायक मनु भी जीवन में जल-प्रलय के बाद स्वयं को एकाकी, दुखी, असहाय और हताश अनुभव करते हैं। दुख को अभिशाप न मानकर श्रद्धा विपत्तियों को वरदान कहती है और सुख-दुख के प्रति समरसता का संदेश देती है। आज विषम परिस्थितियों के चक्र में घिरे मानव को एक बार फिर इस संदेश को ध्यान में रखने की आवश्यकता है-

*“दुख की पिछली रजनी बीच  
विकसता सुख का नवल प्रभात...*

*जिसे तुम समझे हो अभिशाप  
जगत की ज्वालाओं का मूल  
ईश का वह रहस्य वरदान  
कभी मत जाओ इसको भूल।”*

'कामायनी' में शक्ति के बिखरे हुए कणों के समन्वय से मानवता की विजय की बात कही गई है। नर-नारी तथा शासक-शासित के बीच भी समरसता आवश्यक है। समरसता के अभाव में द्वयता उत्पन्न होती है अर्थात् मनु (मानव) सुख में अति सुख और दुख में अति दुख के अनुभव से परेशान हो जाता है, जो आज हम सब की भी विडम्बना है। इस द्वयता की सृष्टि बुद्धिवाद के कारण होती है जो मानव जाति के विनाश का एक प्रमुख कारण भी है। आज प्रसाद जी और उनका साहित्य कितना प्रासंगिक है, उसका एक उदाहरण देना चाहती हूँ-

दो वर्ष पूर्व दिल्ली में हुए निर्भया कांड पर दिया गया हाई कोर्ट का जजमेंट। जस्टिज रेखा खेत्रपाल और जस्टिज प्रतिभा रानी ने अपने फैसले में कहा हालांकि स्त्री की कोमलता उसे असुरक्षित बनाती है, लेकिन समाज के विकास में उसकी भूमिका और स्थान उसे पूज्य बनाते हैं। स्त्री की इन विशिष्टताओं को महान हिंदी कवि जयशंकर प्रसाद ने अपने महाकाव्य कामायनी में बखूबी चित्रित किया है-

*“ये आज समझ तो पाई हूँ, मैं दुर्बलता में नारी हूँ  
अवयव की सुंदर कोमलता, लेकर मैं सबसे हारी हूँ।”*

माना जाता है कि आज तक कोर्ट के किसी फैसले में किसी रचनाकार को उद्धृत नहीं किया गया है। प्रसाद की 'कामायनी' की यही प्रासंगिकता सिद्ध हुई है कि वे आज भी आदर्श रूप में मान्य हैं। श्रद्धा की स्वच्छंदता, अकाद्य तर्कशीलता, निर्भीक स्पष्टवादिता और स्वाभिमानी प्रवृत्ति प्रसाद जी के काव्य की वह आधारशिला है, जिसके सहारे उनके परवर्ती नारी-चरित्रों का निर्माण हुआ।

नारी मुक्ति या स्त्री विमर्श के नाम पर आज नारी का उदात्त रूप धूमिल हो गया है। आधुनिकता एवं आर्थिक समानता की अंधी दौड़ में शामिल होने वाली आज की दिशाहीन स्त्रियों के लिए श्रद्धा का चरित्र आज भी अनुकरणीय है। आदर्श भारतीय नारी के समस्त गुणों से परिपूर्ण उसका

चरित्र इस महाकाव्य की एक देदीप्यमान निधि है। श्रद्धा के चित्रांकन में प्रसाद जी ने लौकिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के रंग भरे हैं। वह आरंभ में मनु के विक्षुब्ध और निराशा भरे जीवन में आसक्ति उत्पन्न करती है और अंत में भौतिक सुखों से खिन्न और अवसन्न मनु को अखंड आनंद का मार्ग दिखाती है। मनु उसके महत्त्व को जिन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं, वह सार्वकालिक सत्य है—

“हे सर्वमंगले! तुम महती  
सबका दुख अपने पर सहती  
कल्याणमयी वाणी कहती  
तुम क्षमा-निलय में हो रहती।”

डॉ. भोलानाथ तिवारी का कथन है “श्रद्धा के चरित्र द्वारा प्रसाद ने न केवल एक आदर्श नारी का चित्र प्रस्तुत किया है अपितु मानव मात्र के लिए इस बात का भी संकेत किया है कि किन मानसिक वृत्तियों को अपनाने से व्यष्टि और समष्टि दोनों का कल्याण हो सकता है।”<sup>2</sup>

श्रद्धा के साथ-साथ ‘इड़ा’ का चरित्र भी आज के समय में कम प्रासंगिक नहीं है। इड़ा जो बुद्धि की प्रतीक है, दूसरे रूप में स्वावलंबी, निष्पक्ष व स्पष्टवादी तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाली है। वह अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु भी सजग है। उसमें राजनीतिक कुशलता है, जिसके द्वारा वह सारस्वत प्रदेश को सम्पन्ना प्रदान करती है। प्रसाद ने इड़ा के माध्यम से यह भी व्यक्त किया है कि आज अनीश्वरवादिता, भौतिकता और बुद्धिवादिता के कीचड़ में फंसी मानवता हृदय पक्ष को जागृत कर कल्याण की राह में अग्रसर हो सकती है। डॉ. गोविंदराम शर्मा के शब्दों में “इड़ा के चरित्र में प्रसाद जी ने अनियंत्रित बुद्धिवाद की विफलता और श्रद्धायुक्त बुद्धिवाद की सफलता प्रदर्शित की है। श्रद्धारहित बुद्धिवाद संघर्ष, अत्याचार और विद्रोह को जन्म देता है परन्तु श्रद्धा समन्वित होकर वह

मानवता को वास्तविक सुख और शांति प्रदान करने की क्षमता रखता है।”<sup>3</sup>

‘कामायनी’ की कुछ विशेषताओं का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक लगता है, जो उसे कालजयी बनाती है। प्रसाद जी ने ‘कामायनी’ के पात्रों में बहिर्द्वन्द्व की अपेक्षा अन्तर्द्वन्द्व को अधिक कुशलता से चित्रित किया है। उनके चरित्रों में न तो कोरा आदर्शवाद है न ही यथार्थवाद। पात्रों में मानव जीवन की समस्त दुर्बलताएँ दिखती हैं। वे अपनी कमजोरियों से ऊँचे उठते हैं और गतिशील चरित्र रखते हैं। सजीवता और मनोवैज्ञानिकता से पूर्ण इन चरित्रों में शाश्वत मानव मनोवृत्तियों की विशेषताएँ भी अभिव्यक्त हुई हैं।

‘कामायनी’ में कवि का संदेश रखने की आवश्यकता उस युग की अपेक्षा आज अधिक लगती है कि भौतिकता मानव को सुख और शांति देने में समर्थ नहीं हो सकती। अनुपमा ऋतु ने बिल्कुल सही लिखा है, “प्रसाद हिंदी समय की एक अनिवार्य उपस्थिति हैं, लेकिन विडम्बना यह है कि प्रसाद के होने को हमारे समय ने एक फासले से देखा है। वे हमारी पाठ्य पुस्तकों में तो हैं, लेकिन हमारी अभिव्यक्तियों और सुधियों से नदारद होते गए हैं। 1989 में प्रसाद की जन्मशती और 2012 में ‘कामायनी’ के प्रकाशन की 75वीं वर्षगांठ पर हिंदी जगत को शिवत्व और बुद्धत्व की क्षितिज रेखाओं पर खड़े अपने इस साहित्यकार की याद नहीं आई।... क्यों न समय की धूल झाड़कर उनके कर्म और आनंद के मूक शिलालेखों को फिर से पढ़ा जाए।”<sup>4</sup>

#### संदर्भ:

1. नंददुलारे वाजपेयी जयशंकर प्रसाद, पृ. 90, 91
2. भोलानाथ तिवारी, कवि प्रसाद, पृ. 125
3. डॉ. गोविंद राम शर्मा, हिंदी के आधुनिक महाकाव्य, पृ. 265
4. अनुपमा ऋतु अहा जिंदगी, पृ. 24

#### संपर्क:

‘मधुरा’ रामायणनगरी भंडारा, 441904 (महाराष्ट्र)

मो. 09823315230

## महादेवी : स्त्री आकांक्षाओं का छा-गालोक

डॉ. सुनीता गुप्ता

लोकगीतों के उन्मुक्त उल्लास-आर्तनाद, मीरा की दृढ़ता में पगे वेदन राग, राजघरानों की स्त्रियों की भक्ति-शृंगार निरूपण, निर्गुण कवि-त्रि-गों की साधना- इन सबको अपने आप में समाहित करता जो स्त्री स्वर मीरा के बाद ध्यान आकृष्ट करने में सक्षम होता है- वह स्वर है महादेवी वर्मा का। वेदना-ग विरह की कवि-त्री के नाम से रूपात महादेवी के गीत अपने में अपने-गुण की चेतना, संघर्ष, वेदना और स्त्री-अस्मिता को समेटे हुए हैं।

महादेवी का रचना संसार सजग होती स्त्री चेतना के समानान्तर चलता है। महादेवी वर्मा की रचनाओं में बहुत वैविध्य नहीं है- न ही शिल्प के स्तर पर और न विषय के स्तर पर। इसलिए-ह भी कहा गया कि महादेवी जी ने आजीवन एक ही कविता लिखी। महादेवी वर्मा की कविताओं को रहस्यवादी कहकर उसके मूल बोध की उपेक्षा की गयी। किन्तु इस रहस्य की ओट से जो झांक-झांक आता है - उसे समझे बिना महादेवी की कविताओं को नहीं समझा जा सकता।

‘निहार’(1930) से प्रारंभ होने वाली महादेवीजी की रचना-गात्रा लम्बी अवधि तक चलती रही। पर उनकी रचनाओं का उत्कर्ष काल छा-गावाद-गुण ही रहा। ‘रश्मि’, ‘नीरजा’, ‘सान्ध-गीत’, ‘दीपशिखा’ उनकी इस अवधि के काव्य संग्रह हैं। ‘-गामा’ में इन चारों संग्रहों के गीत संकलित हैं। स्वतंत्रता पश्चात की कविताओं का संकलन सन् 1990 में ‘अग्निरेखा’ नाम से मरणोपरांत प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त उनकी प्रारंभिक रचनाओं का एक संकलन ‘प्रथम आ-गाम’ नाम से प्रकाशित हुआ। ‘बंगदर्शन’ तथा ‘हिमालय’ उनके द्वारा संपादित काव्य संकलन हैं। ‘सप्तपर्णा’ में वेदों से लेकर वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास आदि संस्कृत मनीषियों की रचनाओं का काव्य-गानुवाद है। इसमें थैरीगाथा के कतिपय गीतों का भी अनुवाद है।

आरंभ से ही महादेवी वर्मा की कविताओं में अनंत के प्रति आकर्षण व जिज्ञासा का भाव उपस्थित रहा। उनमें प्रणय, शृंगार, उत्कंठा, विरहातुरता व्यक्त होती रही- पर उसका आलंबन अलौकिक रहा। इसने उनकी कविताओं को रहस्य के आवरण में आवृत्त कर दिया और वही आवरण आलोचकों का मुख-प्रतिपाद्य बन गया।

कविता हमेशा से एक आत्मपरक विधा रही है। कथा साहित्य की तरह -हाँ पात्र और कल्पित घटनाओं की ओट नहीं होती। हाँ पाठकों से सामना होता है- आँख से आँख मिलाकर होने वाले साक्षात्कार की तरह। इसलिए सामंती समाज में कविताएँ देवी-देवताओं, राजा-महाराजाओं व मिथकी-चरित्रों के आश्रय में लिखी जाती रही हैं। आधुनिक युग में लोकतांत्रिक चेतना के प्रसार के साथ व्यक्तिपरकता आई। पर वहाँ भी प्राकृतिक व्यापारों और अनंत सत्ता का आवरण आरम्भ में रहा। 'प्रसाद' के 'आंसू' काव्य के आलंबन को लेकर चलने वाले विवाद को कैसे भूला जा सकता है। ऐसे में स्त्री के रूप में महादेवी वर्मा के सामाजिक नैतिक दबावों को उनके द्वारा सुभद्रा कुमारी चौहान पर लिखे संस्मरण के आत्मकथा से समझा जा सकता है। गणित की कॉपी में चोरी छुपे कविता लिखना एक अपराध ही था- कविता लिखने को अपराध मानने की वंचना को सुभद्रा कुमारी चौहान को भी झेलना पड़ा था।

पहली दृष्टि में महादेवी की कविताएं व्यक्तिपरक प्रतीत होती हैं। किंतु ऐसा है नहीं। व्यापक सामाजिक-साहित्यिक परिवेश से सम्पृक्त महादेवी वर्मा का साहित्यिक व्यक्तित्व आत्मपरक हो ही नहीं सकता था। अपने आपको समष्टि के हाथों में अर्पित कर देने वाली महादेवी जी के गीतों को उनकी व्यक्तिगत वेदना या भावना का पर्याय मानना महादेवी के मूल व्यक्तित्व का नकार है। इसे प्रमाणित करने के लिए उनकी गद्य की रचनाएँ ही श्रेष्ठ हैं। गद्य की अपेक्षा कविताओं की संवेदना अधिक जटिल होती है। एक कवि का रचना संसार स्मृति-गो, मिथक, जातीय संवेदना, अर्थ, युगीन चेतना, भविष्य दृष्टि- इन सारी चीजों से निर्मित होता है। इसलिए कवि जो रचता है उसकी कई-कई परतें होती हैं जिससे कई बार वह स्वयं भी अनभिज्ञ होता है।

महादेवी की रहस्यवादी मानी जाने वाली कविताओं के भी कई-कई आयाम हैं। महादेवी वर्मा की कविताएँ जिन अश्रु बूँदों से निर्मित हैं उनमें उनके युग की स्त्री वेदना अंतर्निहित है। स्त्री वेदना और स्त्री अस्मिता दोनों मिलकर महादेवी का स्त्री व्यक्तित्व गढ़ते हैं। महादेवी जी के गीतों की तरलता में उस युग की स्त्री वेदना को हिलोरे लेते

देखा जा सकता है। महादेवीजी के गीत अपने युग की स्त्री चेतना का पर्याय बन जाते हैं। स्त्री सुलभ शील व मर्यादा तथा व्यक्तित्व सजगता - दोनों का ही -हाँ समाहार देखा जा सकता है।

मर्यादा, शील और लज्जा के कीलों से बंधे स्त्री संसार में अवगुंठन सिर्फ स्त्री के बाहरी व्यक्तित्व का नहीं, उसके आंतरिक व्यक्तित्व का भी संस्कार बन गया। स्त्री कविता भी इस अवगुंठन से मुक्त न हो सकी। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में पर्दा हटाकर भाग लेने स्त्रियों की निजता अभी भी आवरण में थी। इसलिए महादेवी के रहस्य के आवरण में ही सही - जो कुछ भी व्यक्त हुआ, उसका ऐतिहासिक महत्व है।

मीरा ने स्त्री अस्मिता की अवहेलना का प्रतिकार कृष्ण का आश्रय लेकर किया। महादेवी ने इसके लिए अलौकिक का आलंबन साधा- पर दोनों ही अपने प्रकार का विद्रोह था- अपनी तरह का। -ह सामंती मूल्यों में स्त्री व्यक्तित्व की वस्तु में परिणति की तीखी प्रतिक्रिया थी। आंसू मीरा के पास भी हैं और महादेवी के पास भी- पर वेदना उनका चरम लक्ष्य नहीं- "सच्चाई तो -ही है कि महादेवी जी की गहरी आकांक्षा जीवन के इसी उन्माद राग को गाने की है न कि क्षणभंगुरता की चपेट में आ जाने की!" (महादेवी की कविता का नेपथ्य, विजय बहादुर सिंह, पृ 43) महादेवी के पास ऐसे गीत प्रचुर मात्रा में मिल जा-गेंगे जो जीवन के उल्लास और सुख की आकांक्षा से ओत प्रोत हैं।

महादेवी को आंसू की कवित्री कहा गया- पर इन आंसुओं में स्त्री के स्वप्न और आकांक्षाओं का जो सागर हिलोरे ले रहा है- वह अनदेखा ही रह गया। प्रणय, शृंगार, मिलन, उत्कंठा, विरहाकुलता, समर्पण, निष्ठा, आकांक्षा, राग- स्त्री सुलभ इन समस्त भावों से पगी -ने कविताएँ लौकिक आलम्बन में रचित होने पर उद्यम प्रणय का गीत बन सकती थीं- पर युग ने इतनी स्वतंत्रता स्त्री को दी कहां! जब पुरुष कवि को अलौकिकता की ओट लेने की आवश्यकता पड़ गई तो स्त्री फिर स्त्री के लिए बचा कहना!

महादेवी के गीत प्रणय व शृंगार, की बिखरी हुई कड़ियाँ हैं। इन्हें गुंथकर प्रणय का एक विराट रूपक तैयार किया



जा सकता है। इस प्रण-1 में परिच-1, प्रतीक्षा, मान, उपालंभ, शृंगार, अभिसार की उत्कंठा- सब कुछ है। पर -1ह प्रण-1 के निष्काम समर्पण की घुलनशीलता से आगे बढ़कर स्त्री अस्मिता की दृढ़ता से ठोस व उर्ध्वगामी है। दीपक व मेघों के प्रतीक में बार-बार अभि-1वक्त होने वाले महादेवी के गीत कर्वा-1त्री के व-1क्तित्व की दृढ़ता व करुणाशीलता से समन्वित हैं। 'विरह का जलजात जीवन' में मात्र व-1क्तिगत विरह नहीं है, कर्वा-1त्री की जीवन दृष्टि भी है- 'वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास' की तेजस्विता, दृढ़ता और निष्ठा बादलों की सृजनधर्मिता से गर्वित है। प्रसिद्ध कर्वा-1त्री अनामिका जिसे महादेवी की सविन-1 अवज्ञा का नाम देती हैं, वह इस तेज, दृढ़ता और निष्कामता के बिना संभव ही नहीं था। दीपक व मेघ के प्रतीक के माध-1म से कर्वा-1त्री के सम्पूर्ण व-1क्तित्व को परिभाषित कि-1ा जा सकता है।

छा-1वादी काव-1 के अनुरूप महादेवी वर्मा की कविताएँ अर्थ के कई-कई स्तरों पर एक साथ संचरण करती चलती हैं। अर्थ पर ऊपरी के स्तर -1े कविताएं रहस-1वादी आवरण में लिपटी हुई हैं। -1हाँ वे प्रि-1 को निवेदित हैं। देखा जा-1 तो -1ह समर्पण प्रि-1 के लिए भी हो सकता है और किसी आस्था के लिए भी। सेवाभाव व त-1ाग -1ुगीन आदर्श थे। क-1ा आश्च-1 कि इसी मानव-कल्-1ाण की राह के लिए दीपक की तरह जलते जाना महादेवी के जीवन का लक्ष-1 हो ग-1ा -

“दीप मेरे जल अंचल, घुल अकंपित” और -  
“मधुर मधुर मेरे दीपक जल”

इसी सेवा व मानव-कल्-1ाण ने 'पीड़ा के साम्राज-1' से उनका परिच-1 करा-1ा होगा। महादेवी की कविताओं में स्थान-स्थान पर इसकी झलक दिखलाई पड़ती है - “साम्राज-1 मुझे तब दे डाला, उस चितवन ने पीड़ा का” - पीड़ा के साम्राज-1 से -1ह परिच-1 ही तो सिद्धार्थ को बुद्ध बना ग-1ा था! कर्वा-1त्री इस तथ-1 से परिचित हैं कि आंसुओं के बिना नेत्र और जीवन शुष्क हो जाते हैं- “और होंगे न-1न सूखे, तिल बुझे और पलक रुठे” आंसू जब व-1क्तिगत होते हैं तो दूसरों के दुख के प्रति हमें संवेदनशील बनाते हैं और जब दूसरों की वेदना से निकले होते हैं तो हमारे करुणापूर्ण हृद-1 से परिचित कराते हैं। इस प्रकार आंसू

दूसरों के साथ आंतरिक संवाद के परिचा-1क होते हैं। कोई आश्च-1 नहीं कि महादेवी अन्-1त्र लिखती हैं- “प्रि-1 जिसने दुख पाला हो/वर दो मेरा -1ह आंसू उसके उर की माला हो”।

“देखूँ खिलती कलि-1ां -1ा/र-1ासे सूखे अधरों को/ तेरी चिर -1ौवन-सुषमा/ -1ा जर्जर जीवन देखूँ!” -1ा “ मेरे हंसते अधर नहीं जग-1/ की आंसू -लड़ि-1ां देखो!/मेरे गीले पलक मत छुओ/ मुरझाई कलि-1ां देखो” में पीड़ा का अनुसंधान नहीं तो और क-1ा है ?

‘पंथ होने दो अपरिचित, प्राण रहने दो अकेला’ का पथ भी -1ही है। स्त्री के लिए इस अपरिचित पथ पर वे पूर्ण आस्था, विश्वास व साहस के साथ आगे की ओर उन्मुख हैं-

“दुखव्रत्ती निर्वाण उन्मत्त -1े अमरता नापते पद/ बांध देंगे अंक संसृति से तिमिर में स्वर्ग बेला”

‘तिमिर संस्कृति’ के अंक में ‘स्वर्ण बेला’ - -1ह नवजागरण की ही प्रतिध्वनि है।

‘चिर सजग आंखें उनींदी’ कविता में भी -1ही नवजागरण की चेतना है जिसके संदर्भ ‘बीती विभावरी जाग री’ और ‘प्रि-1 मुद्रित दृग खोलो’ से कहीं अधिक व-1ापक है। निज के सुख दुख की परिधि से बाहर निकल कर देश निर्माण और स्वतंत्रता के व-1ापक से लक्ष-1 जुड़ने का आह्वान इस कविता को रहस-1वाद से बाहर जीवन और जागतिक समस्-1ाओं से जोड़कर महत्वपूर्ण बना देता है। कविता के इस पक्ष की अनदेखी कर महादेवी के काव-1ात्मक -1ोगदान को सीमित कर दि-1ा ग-1ा।

“विश्व का क्रंदन भुला देगी मधुप की मधुर गुनगुन” में -1ुगीन जड़ता की ओर संकेत है। महादेवी जी की कविताओं में -1ुगीन अवरोधों के अनेक संकेत मिलते हैं। दीपक जिस अंधकार से लड़ने को आतुर है, वह -1ुग का संघर्ष ही तो है- ‘झंझा है दिग्भ्रांत रात की मूर्छा गहरी’। “रात के उर में दिवस की चाह का शर हूँ”- अद्भुत है कर्वा-1त्री का साहस और आत्मविश्वास! -1ुग के सुपरिचित अंधकार को प्रकाश में परिवर्तित करने की ही जिद ही -1हां एक क्रांतिकारी ऐतिहासिक संकल्प के साथ प्रकट हुई है- ‘अन्-1 होंगे चरण हारे, और हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे’ और ऐसे में दीपक की भांति बलिदान को

प्रस्तुत हैं-“इसे अजिर का शून्य गलाने को गलने दो!”

वे जब लिखती हैं- ‘झंझा दिग्भ्रांत रात की मूर्च्छा गहरी’ तब -ह कोई अलौकिक झंझा नहीं है न लोकोत्तर मूर्च्छा है इसका स्पष्ट ऐतिहासिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक संदर्भ है।

ऐसी -गुग सजग महादेवी जी की कविताएँ अपने सम-आ के स्त्री आंदोलनों से अछूती कैसे रह सकती थीं। ‘कीर का प्रि-आ आज पिंजर खोल दो’ और ‘तोड़ दो क्षितिज देख लूं उस ओर क-आ है’ में स्त्री मुक्ति का -हो स्वर प्रतिध्वनित है जो रहस्-वादी संकेत देने के साथ -गुगिन मुक्ति संघर्ष से भी जुड़ता है। ‘पथ न भूले, एक पग भी/घर न खोए, लघु विहग भी’ - से जो संकेत है, वह इसी ओर है। महादेवी की स्त्री चेतना को इन पंक्ति-ओं में परिभाषित कि-आ जा सकता है -

“चपल पारद सा विकल तन

सजल नीरद सा भरा मन

नाप नीलाकाश ले जो

बेड़ि-ओं की माप -ह बन”

महादेवी के गीतों में गहरा समर्पण भाव है। पर -ह समर्पण अस्तित्व के निषेध का प-आ नहीं है। समर्पण के साथ व-क्तित्व सजगता की संगति नहीं बैठती। महादेवी इन दो विपरीत दीखने वाले ध्रुवों का अपने का-आ में विलक्षण समाहार करती हैं और इस प्रकार अपने व-क्तित्व को बचा ले जाती हैं। वह मिटने को प्रस्तुत नहीं हैं - “अंत के तम में बुझे क-ओं/ आदि के अरमान मेरे!” अपने -गुग की स्त्री चेतना की प्रतिध्वनि -हाँ सुनी जा सकती है।

महादेवी की कविताओं का एक स्तर वह भी है जहां वे अपनी सर्जनात्मकता और संघर्ष को व-क्त करती हैं। रचना के स्तर पर भी वे -गुग की प्रतिध्वनि बनने, उसकी आशाओं- आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करने तथा उसके सपनों को बचाने का उपक्रम करने में तल्लीन हैं- “सबकी अर्चित कथा इसी लौ में पलने दो” -आ “मैं अनंत पथ में लिखती सस्मित सपनों की बातें/ उनको कभी न धो पाएंगी अपने आंसू से रातें” जब कवि लिखता है, ‘वि-गोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान/आँखों से निकल कर चुपचाप/बही होगी कविता अनजान’- तो इसके संदर्भ

व-क्तित्वगत हो जाते हैं। किंतु जब महादेवी लिखती हैं - “वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास” और “अश्रु चुनता दिवस इसका, अश्रु चुनती रात” तो वे विश्व में, कण कण में विस्तरित होती हैं, जहां कहीं भी मानवता पीड़ित है, वहां तक जाती हैं।

ऐसे संकेतों से उनकी कविताएँ भरी पड़ी हैं। ‘स्निग्ध लौ की तूलिका से/ आँक सबकी छाँह उज्ज्वल!’, ‘सबकी अर्चित कथा इसी लौ में पलने दो’ आदि में -हो निष्ठा व-क्त हुई है। सर्जनात्मक उल्लास, संघर्ष व दा-ित्व बोध अ-आ छा-आवादी कवि-ओं, विशेषकर पंत में भी व-क्त हुआ है- “मैं मनः क्षितिज के पार मौन शाश्वत की प्रज्ज्वलित भूमि का ज-ोतिवाह बन आता” और ‘सपनों को हम हर लाते भू पर’ पंत की इसी तरह की कविताएँ हैं। रचनात्मक स्तर पर जो संघर्ष चल रहा था रूढ़ि-ओं से, अंधकार से- इस प्रकार की छा-आवादी कविताओं में वही अभिव-क्त हुआ है और इस प्रकार कवि मुक्ति संघर्ष में अपनी आवाज मिला रहे थे।

-हां एक सवाल उठता है। क-आ कारण है कि स्त्री के लिए प्रचलित पारम्परिक उपमानों-पुष्प, कमल, चंद्रमा आदि से महादेवी अपने लिए दीपक उपमान ही चुनती हैं? -ह दीपक है जिसमें महादेवी के व-क्तित्व की रेखाएं आकार पाती हैं। दीपक महादेवी वर्मा के जीवन दर्शन को रूपा-ित करता है - दीपक जो एक तरफ अपनी निष्काम निष्ठा में दीप्त है, तो दूसरी तरफ चतुर्दिक के तिमिर से संघर्ष को प्रस्तुत। दीपक महादेवी की सामाजिक प्रतिबद्धता का भी परिच-आ देता है- ‘पथ न भूले, एक पग भी/घर न खोए, लघु विहग भी’।

-ो रचनाएँ महादेवी जी के उत्कर्ष काल की हैं। महादेवी की आरंभिक रचनाओं का संकलन ‘प्रथम आ-आम’ का प्रकाशन बाद में हुआ। ‘अग्निरेखा’ उनकी स्वाधीनता के बाद की कविताओं का संकलन हैं। इनको देखे बिना महादेवी की मूल-आंकन अधूरा ही होगा।

महादेवी जी की कई आरंभिक रचनाओं में देशप्रेम और उद्बोधन था, और स्व-आ महादेवी ने स्वीकार कि-आ है कि वे अज्ञात नाम से जुलूसों में गा-ी भी जाती थीं। प्रथम आ-आम में इस प्रकार की कविताएँ संकलित हैं।

‘अग्निरेखा’ महादेवी की प्रौढ़ व-ा की रचना है। इसमें महादेवी की मृदुता को प्रखरता में परिणत होते देखा जा सकता है। दीपक की लौ की अग्निरेखा में परिणत होने की कथा स्त्री चेतना में आ-ो विस्तार और आत्मविश्वास का परिचा-क है। -गुग बोध -हाँ प्रकट रूप से व-ाक्त हुआ है। कवि-ात्री का व-ाकित्व विकसित हुआ है, अब वे प्रकट रूप से आह्वान करने का आत्म विश्वास अर्जित कर चुकी हैं, -हाँ रहस्-ा का आवरण बिल्कुल हट ग-ा है।

‘अग्निरेखा’ की पहली कविता ‘अग्नि स्तवन’ को समूचे संकलन के प्रस्तावना के रूप में देखा जा सकता है -‘पर्व ज्वाला का नहीं वरदान की बेला! न चन्दन फूल की बेला!’ -हाँ कर्म की चुनौती है- “किसी भी अग्निपंथी को न भाता शब्द का मेला!” -हाँ ‘वंशी में पांचजन-ा’ गाता है।

‘-ह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो’ से ‘पूछो न प्रात की बात/आज आंधी की राह चलो’ -ह समष्टि की ओर प्रत-ाक्ष प्रस्थान है। पुरातनता को छोड़ निर्माण की आकांक्षा -हाँ प्रबल है- “तिमिर पर्व में गली अजर/ नूतन में आज ढलो! आज आंधी की राह चलो।”

दीपक, लौ, चिंगारी - महादेवी के -ो हमेशा प्रि-ा उपमान रहे हैं- पर वहाँ उनमें समर्पण व विरह का भाव प्रमुख था- -हाँ निर्माण के लिए संघर्ष का स्वर प्रबल है - इसमें क्रांति की अनुगूँज शामिल है- “ज्वालामुखि-ों में पले सपने -ो अग्नि विहंग/लपटों के पंखों पर/ कर लेंगे तिमिर पार।” -हाँ आकर अपने आंसुओं के वास्तविक रूप से जगत का परिच-ा कराती हैं-

“अश्रु -ह पानी नहीं है, -ह व-ाथा चंदन नहीं है!” वे

स्व-ां स्वीकार करती हैं- “-ह स्व-ां जलता रहा देने अथक आलोक सबको’

छा-ावादी कविता के भावलोक में जीनेवाली कवि-ात्री जीवन निरपेक्ष नहीं थीं, सजग दृष्टि से वे राजनीतिक घटनाओं का भी अवलोकन कर रही थीं। इसलिए जब सब स्वतंत्रता के उल्लास में निमग्न थे, महादेवी मौन क्रन्दन कर रही थीं। -गुग बोध का प्रखर रूप इन पंक्ति-ों में देखा जा सकता है- “-ह व-ाथा की रात का कैसा सवेरा है। पंक-सा रथचक्र में लिपटा अंधेरा है।” 1962 के चीन आक्रमण पर भी महादेवी की कई कविताएं हैं। ‘हिमाल-ा’ कविता में दिनकर की प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है- “अब धरती का रोम रोम है विद्ध शरों से/शर शै-ा पर व-ाप्त गूँजता आकुल रोदन”

महादेवी जी की -ह सीमा जरूर रही कि वे अपने गीतों के सांचे में कोई परिवर्तन नहीं कर सकीं। -गुग के साथ उनकी कविताओं का विन्-ास नहीं बदला। -ही कारण है कि लम्बी कालावधि में वे पीछे छूट ग-ीं।

महादेवीजी के शिल्प की तुलना उनके व-ाकित्व से की जा सकती है जो उनकी विशिष्ट पहचान निर्मित करता है। -ह गठा हुआ शिल्प स्त्री काव-ा में दुर्लभ ही रहा। उनकी इसी विशेषता को लक्षित करते हुए प्रसिद्ध आलोचक कृष्णदत्त पालीवाल लिखते हैं- “भारती-ा नारी मन की कलात्मक परोस और सफाई का सं-ाम धै-ा बहुत है। हर चीज करीने से सजाई गई है फूहड़ता नहीं है। महादेवी ने जैसे सघन अनुभूति अन्वित आंतरिक ल-ा विन्-ास और सामंजस्-ा भरे प्रतीक लिखे हैं वैसे कलात्मक प्रगीत उनके आस-पास कोई नहीं लिख पा-ा।”

#### संपर्क:

306, साई कारनेशन, बहादुर पेट्रोल पम्प के निकट

कंकड़बाग मेन रोड, पटना- 800020

मो. 08252395560

## आदिवासी अविमता और साहित्य

डॉ. उमेश चंद्र शुक्ल

‘आदिवासी’ शब्द का शाब्दिक अर्थ है- ‘आदिम युग में रहने वाली जातियाँ’, आदिम जातियाँ अर्थात् मूल निवासी, जीवन के मौलिक स्वरूप की संरक्षक जातियाँ, प्रकृति के आराधक, स्वयं में जीवन की सार्थक परिभाषा है, मूलतः यह वे जातियाँ हैं जो लगभग 5000 वर्ष पुरानी भारतीय सभ्यता को संजोये हुए हैं। भारतीयता की मूल चेतना की वाहक हैं। नींव की इस ईंट के संदर्भ में हमारा दृष्टिकोण विशुद्ध व्यावसायिक रहा है। हमने समय के साथ विकास की अपने सुविधा अनुसार अपनी अलग-अलग परिभाषा गढ़ ली है। हमारे विचार करने के नजरिये में ही कहीं न कहीं खोटा है। विकास की पहली ईंट को समझने में शायद हम कहीं न कहीं भ्रमित और गुमराह हैं। शायद हम जानबूझ कर भावना की जगह बुद्धि का लबादा ओढ़ कर विचारों की ओर गति करते हैं। हमें जब यह प्रमाण मिलता है कि, औपनिवेशिक युग के पाँच हजार वर्ष पूर्व आदिवासियों की अपनी स्वतंत्र सत्ता थी। जल, जंगल, जमीन और प्रकृति के संसाधनों पर उनका समान अधिकार था। आदिम जन का प्रकृति के साथ रिश्ता अपनेपन का था। प्राकृतिक संसाधनों को उपयोग में लाने के पूर्व विधिवत अदृश्य सत्ता की आराधना की जाती थी। यह अपना होने का भाव है, प्राकृतिक संरक्षण की प्रवृत्ति, वन संपदा के उपयोग के पूर्व अलिखित मजबूत सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था थी। जिसके मूल में वन्य सम्पदा का संरक्षण तथा मानवता के विकास तथा संरक्षण की मौलिक वैज्ञानिक दृष्टि थी। जिसका पालन हजारों वर्षों से होता रहा है। आदिवासियों ने इतने दुख और विस्थापन झेले हैं कि उनकी जीवन स्मृतियाँ बिखरी हुई हैं और वे अपने नायक की छवि से ठीक-ठाक अवगत नहीं हैं। वहीं अंग्रेजी शासन काल में लिखे दस्तावेज में गुंडा धुर को विद्रोही और गुंडा बतलाया गया है और सरकारी दस्तावेज में गुंडा धुर की छवि ऐसी है कि इसे आदिवासी इससे खुद को जोड़ नहीं पा रहे हैं। आजादी के बाद भारत सरकार द्वारा अपनाए गए विकास के मॉडल ने आदिवासियों से उनके जल, जंगल और जमीन छीन कर उन्हें बेदखल कर दिया। विस्थापन उनके जीवन की मुख्य समस्या बन गई। इस प्रक्रिया में एक ओर उनकी सांस्कृतिक पहचान उनसे छूट रही है, दूसरी ओर उनके अस्तित्व की रक्षा का प्रश्न खड़ा हो गया है। अगर वे पहचान बचाते हैं तो अस्तित्व पर संकट खड़ा होता है और अगर अस्तित्व बचाते हैं तो सांस्कृतिक पहचान नष्ट होती है, इसलिए आज का आदिवासी विमर्श अस्तित्व और अस्मिता

का विमर्श है।

मनुष्य और प्रकृति तथा प्रकृति और मनुष्य एक दूसरे के पर्याय के रूप में पहचाने जा सकते हैं। इस समय प्रकृति के विपरीत जीवन की संकल्पना ही नहीं की जा सकती, इस बात को आदिम जातियाँ अच्छी तरह जानती थीं। शायद यह आदिम जातियों के विकासशील और वैज्ञानिक होने का पुख्ता सबूत है। नदी, पृथ्वी, जल, वन, वृक्ष, वन्य औषधियाँ, फल-फूल यहाँ तक कि पशु-पक्षी तक के साथ गहरा तादात्म्य स्थापित था, समय के साथ घर की आवश्यकता ने सोच में कहीं न कहीं से सेध लगाना शुरू किया। सभ्यता के विकास ने संस्कृति की ओर गति की व्यवस्था की सोच ने आधुनिक विकास की ओर गति की, यह गति कितनी प्रगति है और कितनी अवनति, यह मंथन का विषय है। सभ्यता के विकास ने व्यावसायिकता की जमीन तैयार की तथा प्राकृतिक संसाधनों का आवश्यकता से अधिक दोहन किया जाने लगा। आदिवासी साहित्य की मूल विशेषता इसका पार्थक्य है, इसलिए इसके मूल्यांकन के लिए एक नए सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता होगी। आदिवासी साहित्य पाठक के अनुभव का विस्तार कर उसे उस भूगोल, समाज और इतिहास में ले जाता है, जिससे अधिकतर पाठक अपरिचित हैं। इसमें आई प्रकृति, परंपरागत प्रकृति चित्रण से भिन्न है। यह आदिवासी जीवन और संस्कृति का मूलाधार है। आदिवासी साहित्य जीवन-जगत के प्रति एक अलग नजरिया पेश करता है, इसलिए इसके मूल्यांकन में सतर्कता बरतनी होगी और साथ ही साथ इसे साहित्य की राजनीति से भी बचाना होगा। आदिवासी साहित्य के प्रति पत्रिकाओं, प्रकाशकों, और सबसे ज्यादा पाठकों का बढ़ता रुझान आशान्वित करता है। हमारी भूख इतने पर शांत होने वाली कहाँ थी अब हम व्यापारी की तरह प्रकृति से व्यवहार करने लगे। संसाधनों पर कब्जा हमारी आवश्यकता बन गई और यही कहीं हम अपनी मौलिकता से दूर हो गए। हमने राज्य और साम्राज्य स्थापित करना शुरू किया जबकि प्रकृति के रक्षक अपने को जल, जंगल, जमीन का सेवक मान कर प्रकृति की आराधना करते रहें अब शहरों में रहने वाली आबादी सभ्य है या जंगल में रहने वाला वन्य प्रेमी बहस का विषय हो सकता है किन्तु व्यवस्था का प्रश्न नहीं

हो सकता। साम्राज्य की कामना से जंगल पर कब्जा करने की प्रवृत्ति को पोषण मिला। जैसे-जैसे साम्राज्यवादी ताकतें बढ़ती गईं, औपनिवेशिक सत्ताएं मजबूत होती गईं, वैसे-वैसे आदिवासियों का शोषण और उन पर अत्याचार बढ़ता गया। उनके संसाधनों पर जबरन कब्जा किया जाने लगा, उन्हें अपनी जमीन से बेदखल किया जाने लगा। यह भी कि अपनी स्वायत्तता और अस्मिता के लिए जितना और जिस व्यापक पैमाने पर आदिवासियों ने विद्रोह किया, उतना देश के किसी अन्य तबके ने नहीं किया। पूर्वोत्तर में सात राज्यों का गठन और कुछ ही वर्षों पूर्व झारखण्ड, छत्तीसगढ़, उत्तराखण्ड (सभी आदिवासी बहुल) का गठन आदिवासी अस्मिता की लड़ाई का सबूत है। स्वतंत्र भारत के संविधान में भी आदिवासी समुदाय के लिए ढेरों योजनाएं बनाई गईं, उनकी कला को तो तथाकथित सभ्य समाज ने सराहा, परन्तु दुर्भाग्यवश उनकी सभ्यता और संस्कृति को समझने, उनके अधिकारों के औचित्य को समझने का प्रयास न के बराबर हुआ। परिणामस्वरूप संवैधानिक प्रावधानों के बावजूद इस समुदाय की समुन्नति का सपना साकार नहीं हो सका। विकास की जिद में आदिवासी पहचान के सम्मुख पहचान का प्रश्न संघर्ष का कारण बनने लगा है। विकास का दानव आदिम सत्ता की स्थापना के सम्मुख प्रश्न चिन्ह बनकर खड़ा है। आधुनिक यंत्रों के विकास, सत्ता के षड्यंत्र, राजनीति की विसात पर आदिम जातियाँ तथा आदिवासियों की झोपड़ियाँ, जल, जंगल, जमीन, जोरू, जर के साथ सम्पूर्ण सांस्कृतिक विरासत दाँव पर हैं आज का आदिवासी विमर्श अस्तित्व और अस्मिता का विमर्श है।

दलित और स्त्री साहित्य से भिन्न आदिवासी साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति इसमें अन्य उत्पीड़ित अस्मिताओं के प्रति सहयोगी भाव है। स्त्रीवादी साहित्य ने जाति के प्रश्न को नहीं समझा और दलित साहित्य ने स्त्री के सवाल को तरजीह नहीं दी, जिसके फलस्वरूप 'दलित स्त्री विमर्श' अस्तित्व में आया। चूंकि आदिवासी समाज में श्रम में भागीदारी के कारण स्त्री अपेक्षतया बेहतर स्थिति में रही है, इसलिए साहित्य में भी बड़ी संख्या में स्त्री रचनाकारों ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। उनके और अन्य रचनाकारों

के माध्यम से आदिवासी साहित्य में स्त्री के सवाल को पर्याप्त जगह मिल रही है। आदिवासी साहित्य अपने दायरे में अन्य उत्पीड़ित अस्मिताओं के प्रति संवेदनशील है। आदिवासी विमर्श के बहुत सारे मुद्दे अभी तक ठीक से उठाए ही नहीं गए हैं। जैसे आदिवासी संस्कृति का सवाल, आदिवासियों की भाषाओं का सवाल, उनके धर्म का सवाल कभी किसी ने नहीं उठाया। मैं आपको एक उदाहरण दूँ, आदिवासी संस्कृति की कोई गहरी जानकारी गैर-आदिवासियों को नहीं है। उनका एक नितांत अलग दृष्टिकोण आदिवासियों की संस्कृति के बारे में बना हुआ है। चूँकि आदिवासी साहित्य अपनी रचनात्मक ऊर्जा आदिवासी विद्रोहों की परंपरा से लेता है, इसलिए उन आंदोलनों की भाषा और भूगोल भी महत्वपूर्ण रहा है। हिंदी अधिकांश आदिवासियों की भाषा नहीं है। मुंडारी, संथाली, हो भीलोरी, ओड़िया, गारो आदि उनकी भाषाएं हैं। आदिवासियों ने इतने दुख और विस्थापन झेले हैं कि उनकी जीवन स्मृतियाँ बिखरी हुई हैं और वे अपने नायक की छवि से ठीक-ठाक अवगत नहीं हैं। वहीं अंग्रेजी शासन काल में लिखे दस्तावेज में गुंडा धुर को विद्रोही और गुंडा बतलाया गया है और सरकारी दस्तावेज में गुंडा धुर की छवि ऐसी है कि इसे आदिवासी इससे खुद को जोड़ नहीं पा रहे हैं। आदिवासी लोक में साहित्य सहित विविध कला-माध्यमों का विकास तथाकथित मुख्यधारा से पहले हो चुका था, लेकिन वहां साहित्य सृजन की परंपरा मूलतः मौखिक रही। जंगलों में खदेड़ दिए जाने के बाद भी आदिवासी समाज ने इस परंपरा को अनवरत जारी रखा। ठेठ जनभाषा में होने और सत्ता प्रतिष्ठानों से दूरी की वजह से यह साहित्य आदिवासी समाज की ही तरह उपेक्षा का शिकार हुआ। आज भी सैकड़ों देशज भाषाओं में आदिवासी साहित्य रचा जा रहा है, जिसमें से अधिकांश से हमारा संवाद कायम होना अभी शेष है।

विकास के संजाल, मुक्त व्यापार और मुक्त बाजार के नाम पर मुनाफे और लूट का खेल आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन हथियाने से भी आगे जाकर उनके जीवन को दांव पर लगा कर खेला जा रहा है। आंकड़े बताते हैं कि पिछले एक दशक में अकेले झारखंड राज्य में

दस लाख से अधिक आदिवासी विस्थापित हुए हैं। इनमें से अधिकतर लोग दिल्ली जैसे महानगरों में घरेलू नौकर या दिहाड़ी पर काम करते हैं। विडंबना यह है कि सरकार के अनुसार राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में मूलतः कोई आदिवासी नहीं है, इसलिए यहां की शिक्षण संस्थाओं और नौकरियों में आदिवासियों के लिए आरक्षण या कोई विशेष प्रावधान नहीं है। विकास के नाम पर अपने पुश्तैनी क्षेत्रों से बेदखल किए गए ये लोग जाएं तो कहां जाएं?

सरकार के पास इनके पुनर्वास की कोई योजना नहीं है। अपने जल-जंगल-जमीन से बेदखल महानगरों में शोषित-उपेक्षित आदिवासी किस आधार पर इसे अपना देश कहें? बाजार और सत्ता के गठजोड़ ने आदिवासियों के सामने अस्तित्व की चुनौती खड़ी कर दी है। जो लोग आदिवासी इलाकों में बच गए, वे सरकार और उग्र वामपंथ की दोहरी हिंसा में फंसे हैं। अन्यत्र बसे आदिवासियों की स्थिति बिना जड़ के पेड़ जैसी हो गई है। नदियों, पहाड़ों, जंगलों आदि पड़ोस में रहने वाले आदिवासियों की भाषा और संस्कृति और उससे निर्मित होने वाली पहचान ही कहीं खोती जा रही है। आदिवासी साहित्य पाठक के अनुभव का विस्तार कर उसे उस भूगोल, समाज और इतिहास में ले जाता है, जिससे अधिकतर पाठक अपरिचित हैं। इसमें आई प्रकृति, परंपरागत प्रकृति चित्रण से भिन्न है। यह आदिवासी जीवन और संस्कृति का मूलाधार है। आदिवासी साहित्य जीवन-जगत के प्रति एक अलग नजरिया पेश करता है, इसलिए इसके मूल्यांकन में सतर्कता बरतनी होगी और साथ ही साथ इसे साहित्य की राजनीति से भी बचाना होगा। आदिवासी साहित्य के प्रति पत्रिकाओं, प्रकाशकों, और सबसे ज्यादा पाठकों का बढ़ता रुझान आशान्वित करता है।

आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के लिए इतना गहरा संकट इससे पहले नहीं पैदा हुआ। जब सवाल अस्तित्व का हो तो प्रतिरोध भी स्वाभाविक है। सामाजिक और राजनीतिक प्रतिरोध के अलावा कला और साहित्य के द्वारा भी प्रतिकार की आवाजें उठीं, और वही समकालीन आदिवासी साहित्य का मुख्य स्वर हो गया। जब-जब दिक्कों ने आदिवासी जीवन में अनावश्यक हस्तक्षेप किया, आदिवासियों



ने उसका प्रतिरोध किया है। पिछली दो सदियां आदिवासी विद्रोहों की गवाह रही हैं। इन विद्रोहों से रचनात्मक ऊर्जा भी निकली, लेकिन वह मौखिक ही अधिक रही। संचार माध्यमों के अभाव में वह राष्ट्रीय रूप नहीं धारण कर सकी। समय-समय पर गैर-आदिवासी रचनाकारों ने भी आदिवासी जीवन और समाज को अभिव्यक्त किया। साहित्य में आदिवासी जीवन की प्रस्तुति की इस पूरी परंपरा को हम समकालीन आदिवासी साहित्य की पृष्ठभूमि के तौर पर रख सकते हैं।

कोई भी साहित्यिक आंदोलन किसी तिथि विशेष से अचानक शुरू नहीं हो जाता। उसके उद्भव और विकास में तमाम परिस्थितियां अपनी भूमिका निभाती हैं। समकालीन आदिवासी लेखन और विमर्श की शुरुआत हमें 1991 के बाद से माननी चाहिए। नई आर्थिक नीतियों ने आदिवासी शोषण-उत्पीड़न की प्रक्रिया तेज की, इसलिए उसका प्रतिरोध भी मुखर हुआ। प्रतिरोध का स्वरूप राष्ट्रीय था, इसलिए प्रतिरोध से निकली रचनात्मक ऊर्जा देश भर में फूटी। इसमें आदिवासी और गैर-आदिवासी रचनाकार, दोनों बढ-चढ कर हिस्सा ले रहे हैं। इस साहित्य का भूगोल, समाज, भाषा, संदर्भ शेष साहित्य से उसी तरह पृथक है जैसे स्वयं आदिवासी समाज, और यही पार्थक्य इसकी मुख्य विशेषता है। आदिवासी साहित्य की अवधारणा के निर्माण का दौर है। आदिवासी साहित्य अस्मिता की खोज, दिक्कों द्वारा किए गए और किए जा रहे शोषण के विभिन्न रूपों के उद्घाटन और आदिवासियों पर मंडराते संकटों और उनके मद्देनजर हो रहे प्रतिरोध का साहित्य है। यह उस परिवर्तनकारी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है जो देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरजोर विरोध करती है और उनके जल, जंगल, जमीन को बचाने के हक में उनके 'आत्मनिर्णय' के अधिकार के साथ खड़ी होती है। हालांकि यह समकालीन आदिवासी लेखन और विमर्श का आरंभिक दौर है लेकिन इसके बावजूद यह सुखद है कि इसमें अभी तक 'स्वानुभूति बनाम सहानुभूति' जैसी छद्म बहसों केन्द्र से दूर परिधि के इर्दगिर्द ही घूम रही हैं। आखिर स्वानुभूति या अनुभूति की प्रामाणिकता को केंद्रीय महत्व मिले भी क्यों? निश्चय ही

अनुभूति की प्रामाणिकता की जगह अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता अधिक महत्वपूर्ण है और होनी भी चाहिए। यह सच है कि लंबे अनुभव, निकट संपर्क और संवेदनशीलता के बिना प्रामाणिक अभिव्यक्ति संभव नहीं है, खासकर आदिवासी संदर्भ में, लेकिन इसके बावजूद स्वानुभूति को एकमात्र आधार नहीं बनाया जा सकता।

आदिवासी साहित्य विमर्श के मुद्दे अभी आकार ले रहे हैं। 'आदिवासी कौन है' से शुरू होकर आदिवासी समाज, इतिहास, संस्कृति, भाषा आदि पर पिछले एक दशक में कुछ बातें हुई हैं। हर साहित्यिक आंदोलन की शुरुआत और उसे आगे बढ़ाने में पत्रिकाओं की अहम भूमिका होती है। आदिवासी मुद्दों को उठाने, उनसे जुड़े सृजनात्मक साहित्य को प्रोत्साहन देने में इन पत्रिकाओं ने अहम योगदान दिया है- 'युद्धरत आम आदमी' (दिल्ली, हजारीबाग; संपादक रमणिका गुप्ता), 'अरावली उद्घोष' (उदयपुर, सं. बीपी वर्मा 'पथिक'), 'झारखंडी भाषा साहित्य, संस्कृति अखड़ा' (रांची, सं. वंदना टेटे), 'आदिवासी सत्ता' (दुर्ग, छत्तीसगढ़; सं. के.आर. शाह) आदि। इनके अलावा 'तरंग भारती' के माध्यम से पुष्पा टेटे, 'देशज स्वर' के माध्यम से सुनील मिंज और सांध्य दैनिक 'झारखंड न्यूज लाइन' के माध्यम से शिशिर टुडु आदिवासी विमर्श को बढ़ाने में लगे हैं। बड़ी संख्या में मुख्यधारा की पत्रिकाओं ने आदिवासी विशेषांक निकाल कर आदिवासी विमर्श को आगे बढ़ाने में मदद की है, जैसे- 'समकालीन जनमत' (2003), 'दस्तक' (2004), 'कथाक्रम' (2012), 'इस्पातिका' (2012) आदि। शुरू में हिंदी की प्रमुख पत्रिकाओं ने आदिवासी मुद्दों को छापने में उतनी रुचि नहीं दिखाई लेकिन अब विमर्श की बढ़ती स्वीकारोक्ति के साथ ही इन पत्रिकाओं में आदिवासी जीवन को जगह मिलने लगी है। छोटी पत्रिकाओं में आदिवासी लेखकों को पर्याप्त जगह मिल रही है।

श्रुत-स्मृत मौखिक साहित्य परंपरा का लाभ आदिवासी रचनाकारों को भरपूर मिला है। आदिवासी साहित्य की उस तरह कोई केंद्रीय विधा नहीं है, जिस तरह स्त्री लेखन और दलित साहित्य की आत्मकथात्मक लेखन की है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, सभी प्रमुख विधाओं में आदिवासी और गैर-आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी

जीवन समाज की प्रस्तुति की है। आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संघर्ष में कविता को अपना मुख्य हथियार बनाया है। आदिवासी लेखन में आत्मकथात्मक लेखन केंद्रीय स्थान नहीं बना सका, क्योंकि स्वयं आदिवासी समाज 'आत्म' से अधिक समूह में विश्वास करता है। अधिकतर आदिवासी समुदायों में काफी बाद तक भी निजी और निजता की धारणाएं घर नहीं कर पाई। परंपरा, संस्कृति, इतिहास से लेकर शोषण और उसका प्रतिरोध- सबकुछ सामूहिक है। समूह की बात आत्मकथा में नहीं, जनकविता में ज्यादा अच्छे से व्यक्त हो सकती है।

आदिवासी साहित्य में आई आदिवासियों की समस्याओं को मोटे तौर पर दो भागों में बांटा जा सकता है- उपनिवेश काल में साम्राज्यवाद और सामंतवाद के गठजोड़ से पैदा हुई समस्याएं, और दूसरे, आजादी के बाद शासन की जनविरोधी नीतियों और उदारवाद के बाद की समस्याएं। आदिवासी कलम तेजी से अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार कर रही है। आजादी से पहले आदिवासियों की मूल समस्याएं वनोपज पर प्रतिबंध, तरह-तरह के लगान, महाजनी शोषण, पुलिस-प्रशासन की ज्यादतियां आदि हैं, जबकि आजादी के बाद भारत सरकार द्वारा अपनाए गए विकास के मॉडल ने आदिवासियों से उनके जल, जंगल और जमीन छीन कर उन्हें बेदखल कर दिया। विस्थापन उनके जीवन की मुख्य समस्या बन गई। इस प्रक्रिया में एक ओर उनकी सांस्कृतिक पहचान उनसे छूट रही है, दूसरी ओर उनके अस्तित्व की रक्षा का प्रश्न खड़ा हो गया है। अगर वे पहचान बचाते हैं तो अस्तित्व पर संकट खड़ा होता है और अगर अस्तित्व बचाते हैं तो सांस्कृतिक पहचान नष्ट होती है, इसलिए आज का आदिवासी विमर्श अस्तित्व और अस्मिता का विमर्श है।

दलित और स्त्री साहित्य के बरक्स आदिवासी साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति इसमें अन्य उत्पीड़ित अस्मिताओं के प्रति सहयोगी भाव है। स्त्रीवादी साहित्य ने जाति के प्रश्न को नहीं समझा और दलित साहित्य ने स्त्री के सवाल को तबज्जों नहीं दी। जिसका परिणाम फलस्वरूप 'दलित स्त्री विमर्श' अस्तित्व में आया। चूंकि आदिवासी समाज में श्रम में भागीदारी के कारण स्त्री अपेक्षया बेहतर स्थिति में रही

है, इसलिए साहित्य में भी बड़ी संख्या में स्त्री रचनाकारों ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। उनके और अन्य रचनाकारों के माध्यम से आदिवासी साहित्य में स्त्री के सवालों को पर्याप्त जगह मिल रही है। आदिवासी साहित्य अपने दायरे में अन्य उत्पीड़ित अस्मिताओं के प्रति संवेदनशील है। यहाँ द्रष्टव्य है की आदिवासी साहित्य अपनी रचनात्मक ऊर्जा आदिवासी विद्रोहों की परंपरा से लेता है, इसलिए उन आंदोलनों की भाषा और भूगोल भी महत्वपूर्ण रहा है। हिंदी अधिकांश आदिवासियों की भाषा नहीं है। मुंडारी, संथाली, हो, भीलोरी, ओड़िया, गारो आदि उनकी भाषाएं हैं। आदिवासी रचनाकारों का मूल साहित्य उनकी इन्हीं भाषाओं में है। हिंदी में मौजूद साहित्य देशज भाषाओं में उपस्थित साहित्य की इसी समृद्ध परंपरा से प्रभावित है। कुछ साहित्य का अनुवाद और रूपांतरण भी हुआ है। भारत की तमाम आदिवासी भाषाओं में लिखा जा रहा साहित्य हिंदी, बांग्ला, तमिल जैसी बड़ी भाषाओं में अनूदित और रूपांतरित होकर एक राष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण कर रहा है।

आदिवासी साहित्य की मूल विशेषता इसका पार्थक्य है, इसलिए इसके मूल्यांकन के लिए एक नए सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता होगी। आदिवासी साहित्य पाठक के अनुभव का विस्तार कर उसे उस भूगोल, समाज और इतिहास में ले जाता है, जिससे अधिकतर पाठक अपरिचित हैं। इसमें आई प्रकृति, परंपरागत प्रकृति चित्रण से भिन्न है। यह आदिवासी जीवन और संस्कृति का मूलाधार है। आदिवासी साहित्य जीवन-जगत के प्रति एक अलग नजरिया पेश करता है, इसलिए इसके मूल्यांकन में सतर्कता बरतनी होगी और साथ ही साथ इसे साहित्य की राजनीति से भी बचाना होगा। आदिवासी साहित्य के प्रति पत्रिकाओं, प्रकाशकों, और सबसे ज्यादा पाठकों का बढ़ता रुझान आशान्वित करता है। आदिवासी साहित्य आदिम प्रश्नों के साक्षात्कार करने के साथ समाधन की दिशा में सोचने पर मजबूर करता है कि क्या विकास के नाम पर आदिवासी जीवन और संस्कृति की बलि दी जा रही है। आदिवासी साहित्य और आदिवासी साहित्यकार व्यवस्था के खिलाफ मुखर प्रतिरोध दर्ज करवा रहा है। आदिवासी साहित्य

जीवन और जीवंत कौम कि अस्मिता का साहित्य है। जिसके आईने में जीवन के विकास की सम्भावनाओं का तलाशा जा सकता है। भौतिक विकास की कीमत जीवन नहीं, जीवन के लिए विकास है। इस धरा का मूल निवासी (इंडीजिनस) आदिवासी होने के बावजूद तथाकथित सभ्य समाज की बर्बरता से यह समुदाय जंगलों, कंदराओं की ओट में रहने के लिए विवश रहा। प्रकृति से साहचर्य स्थापित कर यह समुदाय जल, जंगल और जमीन के किसी कोने में दुबका रहा। विकास और सुविधा-संसाधन से वंचित रहा। परंतु दर-ब-दर विस्थापित होने के बावजूद इस समुदाय ने अपनी संस्कृति, सभ्यता, भाषा को कभी त्यागा नहीं। लाभ-लोभ की प्रवृत्ति से दूर रहकर आदिवासी समुदाय ने सदियों से जंगलों में कंद-मूल खाकर, पोखरों, झरनों का पानी पीकर जीवनयापन किया—पूरे आत्माभिमान सहित अपनी भाषा, सहित और जीवन-शैली को जिन्दा रखते हुए। लगातार शोषण और विस्थापन के शिकार रहने के कारण ही इस समुदाय में आक्रोश का भाव तीव्र होता रहा। जैसे-जैसे आदिवासी वर्ग शिक्षा और नागरी परिवेश से परिचित हुआ, उसे अपने मूल्य और वजूद का एहसास सालने लगा। आदिवासी अपने को छला हुआ, विकास की मुख्यधारा से वंचित और समाज का बहिष्कृत हिस्सा समझने लगा। उसमें अपने शोषण का बोध जैसे-जैसे बढ़ता गया, वैसे-वैसे उसने सभ्य जातियों के अत्याचार के विरुद्ध बगावत का रास्ता अख्तियार किया। आदिवासी साहित्य में विद्यमान वेदना, पीड़ा, आक्रोश का भाव इसका प्रतीक है। गौरतलब है कि अपनी उपेक्षा और अन्याय के विरोध में आदिवासी समुदाय प्रतिरोध करता रहा है। देश के अनेक हिस्सों में आदिवासी विद्रोह की लम्बी परम्पराएं रही हैं। मिशन विद्रोह जैसे आंदोलन से आदिवासी समाज की तड़प, बेचैनी और संघर्ष का अंदाजा लगाया जा सकता है। तीर और कमान आदिवासी की पहचान रहे हैं, आज यह पहचान कलम की शक्ति के रूप में उद्धाटित हो रही है। जैसे-जैसे जागरूकता और चेतना बढ़ रही है, ज्ञान की रौशनी से जंगलवासी परिचित हो रहे हैं, वैसे-वैसे उनमें अपने स्वत्व का बोध और अस्मिता का भान दृढ़ होता जा रहा है। जीवन के बुनियादी हकों के लिए वे संगठित हो रहे

हैं, कलम की ताकत उनके संगठन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। आज आदिवासी लेखक अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक विशिष्टताओं का उद्घाटन कर उस समूची व्यवस्था को प्रश्नांकित कर रहा है जिस पर सभ्य कही जाने वाली सभ्यता गुमान करती रही है। यह भी कि, यह विमर्श समूची सांस्कृतिक परम्परा के पुनर्पाठ की आवश्यकता भी जता रहा है।

आज का आदिवासी विमर्श अस्तित्व और अस्मिता का विमर्श है। यह ऐसा विमर्श है जिससे इस समुदाय की परंपरा, रूढ़ियां, संस्कृति, अन्याय, अत्याचार, अपमान, शोषण सभी कुछ बयान हो रहा है। लोककला, संगीत, नृत्य, संस्कृति, भाषा, बोली, लिपि आदि विभिन्न धरातलों पर आदिवासी लेखन एक व्यापक विमर्श का हिस्सा बन रहा है। चूंकि इसकी लिपि और भाषा को लम्बे अरसे तक पहचान ही नहीं मिल सकी इसलिए उनका संरक्षण और विकास भी बाधित हुआ। प्रतिष्ठित मराठी आदिवासी साहित्यकार वाहरू सोनवणे का यह कहना ठीक है कि लिखित ही केवल साहित्य होता है यह कहना ही आदिवासियों की दृष्टि से असंगत है। साहित्य और कला, साहित्य और जीवन के बीच जो दीवारें समाज में खड़ी हैं, उन दीवारों का आदिवासी समाज में कुछ भी स्थान नहीं है। इन व्याख्याओं को बदलना जरूरी है क्योंकि आज आदिवासी समाज में कई प्रथाएं लोकगीत और नाटक तथा अनेक अन्य कलाएं विद्यमान हैं जिसे शब्दबद्ध नहीं किया गया है। हजारों वर्षों से चली आ रही परंपराएं कभी थमी नहीं। वे परम्पराएं आज भी मौलिक रूप में आदिवासी जीवन का अभिन्न अंग रही हैं। फिर इसे साहित्य कैसे नहीं कहेंगे। ऐसी दलीलें इस बात की आवश्यकता जता रही हैं कि आदिवासी साहित्य को सही परिप्रेक्ष्य में देखने की जरूरत है। यहाँ एक प्रश्न के तौर पर चर्चा का विषय रहा है कि आदिवासी साहित्य क्या है? कारण यह कि इस साहित्य के बहाने जो तथ्य सामने आ रहे हैं उसमें सभ्य समाज की बर्बरता, अमानुषिकता का उल्लेख मात्र नहीं है अपितु मानव सभ्यता के इतिहास की जमीनी हकीकत को मटियामेट करने की कहानी भी अभिव्यक्त हो रही है। प्रसिद्ध आदिवासी विमर्शकार डॉ. विनायक तुकाराम के अनुसार, “आदिवासी

साहित्य वन संस्कृति से संबंधित साहित्य है। आदिवासी साहित्य उन वन जंगलों में रहने वाले शोषितों और वंचितों के जीवन और संवेदना का साहित्य है, जिनके प्रश्नों का अतीत में कभी उत्तर ही नहीं दिया गया। यह ऐसे दुर्लक्षितों का साहित्य है, जिनके आक्रोश पर शासन व्यवस्था, समाज व्यवस्था ने कभी कान ही नहीं दिया। इनकी आवाज कभी सुनी ही नहीं गयी।

पंद्रहवीं शताब्दी में संथाल, कोल, मुंडा विद्रोह पर यदि हम नजर डालें तो पता चलता है की आदिवासी जातियाँ स्वतंत्रता के मूल्य के लिए अपना सब कुछ निछावर करने को तत्पर थीं। इन्हें जिसकी भरपूर कीमत चुकानी पड़ी। सदियों से जारी क्रूर और कठोर न्याय व्यवस्था ने जिनकी सैकड़ों पीढ़ियों को आजीवन वनवास दिया, उस आदिम समूह की मुक्ति का साहित्य है— आदिवासी साहित्य।” आदिवासी साहित्य जीवनवादी साहित्य है। इसमें लक्षित विद्रोह जीवन के बुनियादी हकों से महरूम करने वाली व्यवस्था के विरोध की अभिव्यक्ति है। आदिवासी समाज की मुक्ति के लिए संघर्षरत आदिवासी वीर पुरुषों का राजनीतिक, सामाजिक विद्रोह इसकी मूल प्रेरणा है। यह साहित्य केवल, शब्दबद्ध रचना नहीं है बल्कि मुहों पर आधारित, शोषित, उपेक्षित, बहिष्कृत वर्ग की आवाज उठाने वाला प्रतिबद्ध, परिवर्तनकारी और संकल्पबद्ध साहित्य है। प्रस्थापितों का यह साहित्य परिवर्तनकारी है, क्रांतिकारी है। इसमें प्रतिरोध का भाव है, विरोध का माहौल है। अस्वीकार का साहस है। स्वीकार की दलीलें हैं। अनुभव की पूंजी है। आदिवासियों के बारे में इतिहासवेत्ताओं, समाजचिन्तकों, साहित्यकारों ने सैकड़ों वर्षों से जो कलुषित धारणाएं बना रखी थीं उसके प्रति तीव्र प्रतिरोध का भाव आदिवासी लेखन में प्रकट हो रहा है। लेखन की कविताओं, कहानियों में व्यवस्था विरोध और हिन्दू संस्कृति के प्रति जो विरोध का भाव है, उसका कारण यही है, और यही वजह है कि आदिवासी लेखन में वे मिथक, बिम्ब, प्रतीक प्रायः नहीं मिलते जो कि तथाकथित सभ्य और सुसंस्कृत साहित्यिकों के लेखन के हिस्से हैं। बनिस्वत इनके लेखन में जंगल है, केंचुआ है, मिट्टी है, पक्षी हैं, पेड़-पौधे हैं, सूर्य चन्द्रमा है, पानी, बिजली, झरने, पोखर हैं। आदिवासी विमर्शकार

राजाराम भादू ने भी कहा है, “आदिवासी साहित्य के उद्भव और परिप्रेक्ष्य निर्माण में मराठी के दलित साहित्य के संबंध को जोड़कर देखा गया है जो सही भी है, लेकिन आदिवासी अस्मिता और उनकी संघर्ष-धर्मी चेतना के विकास और प्रतिरोध संगठनों के निर्माण में नक्सलवादी आंदोलन के प्रेरणा प्रयासों को वहां लगभग नजरअंदाज कर दिया गया है। जबकि तेलंगाना-तेभागा आंदोलन से ही आदिवासी स्त्री-पुरुषों की गोलबंदी आरंभ हो गयी थी। यह प्रक्रिया नक्सलवादी श्रीकाकुलम, दण्डकारण्य और भोजपुर में आगे परवान चढ़ी और भयंकर दमन और उत्पीड़न के बावजूद आज भी आदिवासी अंचलों में फैलती जा रही है।” आदिवासी चेतना, रागात्मकता, प्रकृति, पर्यावरण, पारम्परिक और स्थानीय ज्ञान तथा अभिव्यक्ति की सहजता जब लेखन के माध्यम से सामने आयेगी तो जाहिर है साहित्य का जीवद्रव्य सघन होगा और जिजीविषा से भरापूरा भी। साहित्य में अभिव्यक्ति और कहन के नये आयाम आयेंगे। साहित्य की सृजनात्मकता में जो एकरूपता, जड़ता हो सकती है, वह ढीली होगी। कथ्य, कहन और भंगिमा से सृजनात्मक भूमि और क्षितिज का विस्तार होगा। अनजाने मिथ, कथानक, विभ्रम और यथार्थ से हिन्दी साहित्य समृद्ध होगा। हिन्दी की जनतांत्रिकता और उसके मूल्यों का विकास और विस्तार होगा। न जाने कितने शब्द, अर्थ और छवियां धीरे-धीरे रचनात्मक रूप से आयेंगी। सम्भव है अनेक जीवनानुभवों से साबका पहली बार होगा। कुल मिलाकर साहित्य या काव्य संवेदना और काव्य भाषा का विकास होगा।

आदिवासी कला, साहित्य और संस्कृति पर काम करते हुए अनुभव के आधार पर यह कह सकता हूं कि आदिवासी साहित्य के माध्यम से स्वयं की पहचान, स्वयं की आवाज और स्वयं की सृजनात्मक अभिव्यक्ति से जो सामाजिक और राजनीतिक चेतना सामने आयेगी; उसमें अंततः पूरे भारतीय समाज की मुक्ति, अभिव्यक्ति और संघर्ष ही सामने होंगे। भारतीय समाज का सच और उसके मर्म सामने आयेंगे। परंतु यदि सिर्फ स्वयं की पहचान, पालिटिकल आइडेंटिटी या अपनी पहचान की राजनीति के रूप में साहित्य का निर्माण होगा, तो वह मात्र गुस्सा, नफरत,

विभेद को सामने लायेगा। फिर आदिवासी साहित्य की सृजनात्मकता से साहित्य कम सम्पृक्त होगा। साहित्य की वर्तमान अभिव्यक्ति की चालढाल पर प्रतिक्रियात्मक लेखन अधिक होगा। इसमें इस राजनैतिक चेतना का अभाव होगा कि हमारे प्राथमिक दुश्मन कौन हैं। सामाजिक, आर्थिक कारणों की समग्र दृष्टि और परिप्रेक्ष्य का अभाव होगा। सामाजिक सरोकार बेहद तात्कालिक होंगे। अनुभव की तीव्रता, अभिव्यक्ति की विविधता और सहजता कम होगी। बेशक आदिवासी अंचलों में नक्सली आंदोलन के उभार को भी इस पृष्ठभूमि में देखना जरूरी है। यह विचारणीय है कि आखिर क्यों आदिवासी 'नक्सली' बनने पर मजबूर हो रहा है? बहरहाल, आदिवासी विमर्श के मुद्दों और पृष्ठभूमि की पड़ताल के साथ यह माना सकता है कि इससे वंचित, बहिष्कृत समुदाय की चेतना को केन्द्र में लाने की पहल हो रही है। समय और समाज की स्थिति को देखते हुए यह स्वीकारना होगा कि वर्ण, वर्ग, जाति, लिंग भेद की दूरियों को पाटकर ही सामाजिक न्याय व्यवस्था और समुन्नत समाज की स्थापना हो सकती है।

यह भारतीय समाज, राजनीति और साहित्य में उत्पीड़ित

अस्मिताओं के मुक्तिकामी संघर्षों का दौर है। बीसवीं सदी के आखिरी दशकों में भारत में नए सामाजिक आंदोलनों का उभार हुआ। स्त्रियों, किसानों, दलितों, आदिवासियों और जातीयताओं की 'नई' एकजुटता ने ऐसी मांगें और मुद्दे उठाए जो स्थापित सैद्धांतिक और राजनीतिक मुहावरों के माध्यम से आसानी से समझे और सुलझाए नहीं जा सकते थे। इन समूहों ने अपने शोषण के लिए अपनी खास अस्मिता को कारण बताया और उस शोषण और भेदभाव के खिलाफ संघर्ष के लिए उस संबंधित अस्मिता वाले समुदाय को साथ लेकर अपनी मुक्ति के लिए सामूहिक अभियान चलाया। चूंकि इस प्रक्रिया में शोषण और संघर्ष का आधार सामुदायिक पहचान है, इसलिए इसे अस्मितावाद की संज्ञा दी गई। वंचितों के शोषण के खिलाफ खड़ी हुई मुहिम में सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन के अलावा साहित्यिक आंदोलन ने भी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया है। स्त्रीवादी साहित्य और दलित साहित्य उसी का प्रतिफल है। अब आदिवासी चेतना से लैस साहित्य भी साहित्य और आलोचना की दुनिया में अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुका है।

#### संपर्क:

103, ओशियन व्यू, आर.एन.पी.पार्क

भायंदर (पूर्व), ठाणे -400012

मो. 09324554008

## कामा-नी-पुनर्पाठ

डॉ. रंजना अरगड़े

कोई भी रचना बड़ी इसलिए होती है कि वह हर -गु में एक न-ग अर्थ देती है। इस बात की प्रतीति 'कामा-नी' पढ़ कर होती है। इसके पूर्व 'कामा-नी' की अनेक व-ग-ग-ग हुई हैं। मनोविज्ञान विशेषतः मनोविश्लेषण की दृष्टि से कामा-नी के कथानक को जोड़ना, उसे -गुगिन संदर्भ से जोड़ता है। -ग-ग एक विचित्र किन्तु अद्भुत संदर्भ 'कामा-नी' के रचनाकार ज-गशंकर प्रसाद और चिंतामणि के लेखक आचा-ग रामचंद्र शुक्ल के साथ जुड़ता दिखाई पड़ता है। रामचंद्र शुक्ल का चिंतामणि भाग-1 तथा 'कामा-नी' का रचना-सम-ग तो एक ही है। अपने सम-ग का सर्वश्रेष्ठ आलोचक जो आज भी अपने पद से डिगा नहीं है, मनोभावों का विश्लेषण गद्य में कर रहा था और अपने सम-ग का इतना बड़ा कवि उन्हीं मनोभावों को काव-ग के सौन्द-ग में वेष्टित कर रहा था। 'कामा-नी' और चिंतामणि में कोई समानता है, ऐसा मेरा आग्रह -ग दुराग्रह भी नहीं है। परन्तु -ग एक विलक्षण बात है कि दोनों ही, एक प्रकार की बात कर रहे थे। एक ही विष-ग पर चिंतन कर रहे थे। एक में मनोभावों का सामाजिक स्वरूप और भूमिका दृष्टिगोचर होती है और दूसरे में मनोभावों का वै-गक्तिक स्वरूप दिखाई पड़ता है, जो आखिरकार तो सामाजिक समरसता तक पहुँचता है। कामा-नी महाकाव-ग में प्रसाद की विशेषता -ग है कि उन्होंने इन मनोभावों को छा-गवादी सौन्द-ग के स्तर पर प्रस्तुत कि-ग है। शुक्लजी के -ग-ग मनोभावों का -ग चित्रण जितना गुरु-गंभीर और वजनदार (भाषा-शैली के कारण, संभवतः) लगता है, प्रसादजी के -ग-ग उतना ही सुंदर, शोभाम-ग और प्रीतिकर स्वरूप में दृष्टिगोचर होता है। एक ही कथ-ग मानों दो विभिन्न रचनाकारों के भिन्न साहित्य-गक स्वरूपों में, विभिन्न रूप धारण करता दिखाई पड़ता है। क-ग -ग स्वरूप का अंतर और कथ-ग की समांतरता इस बात की ओर इशारा नहीं करता कि मनोभावों का इस तरह विश्लेषण एक तरह से उस -ग की अपनी विशेषता बन जाती है।

'कामा-नी' पढ़ कर क-ग ऐसा नहीं लगता कि उसका रचना विधान औपन-गसिक है? आधुनिक उपन-गस किसी सम-ग महाकाव-ग के स्थानापन्न कहे जाते थे। पर घटनाओं के संकलन और विकास में 'कामा-नी' का रचना-विधान औपन-गसिक लगता है। हाँ, लेकिन



—ह तो मानना पड़ेगा कि अपने प्रभाव में वह महाकाव्य-आत्मक ही है। महाकाव्य के आरंभ में बाढ़ (प्रल-1) के उतर जाने के बाद बचे हुए एक मनुष्य का चित्रण है। देव संस्कृति का शेष बचा हुआ प्रतिनिधि —ह पुरुष जिसका नाम मनु है अपने बीते कल की समृद्धि को —ाद करते हुए चिता करता है। इस सौरचक्र में आवर्तन होता रहता है.... 'कामा—नी' के आरंभ में ऐसा ही एक आवर्तन हुआ और मनु बच ग—ा है— अकेला। अर्थात् मनु की घटना कोई विशिष्ट —ा अकेली घटना नहीं है। अनेक आवर्तनों में से —ह एक आवर्तन था। निर्जनता में कही ग—ी उसकी विषाद-वार्ता को केवल पवन पी रहा है। एकान्त क्रंदन करता हुआ मनु चिंता से भरा हुआ हमारे समक्ष उपस्थित है। अकेलेपन की चिंता और देव-सृष्टि के विलास की स्मृति—ा मनु की बेचैनी का मुख—ा कारण है। लेकिन फिर प्रल—1—निशा का प्रात होता है। कामा—नी में मनु की चिंता भरी स्थिति के बाद जिस तरह श्रद्धा की उससे भेंट होती है, श्रद्धा के प्रति उसका आकर्षण, श्रद्धा के मन में मनु के प्रति सहज आकर्षण फिर अकेलापन दूर होने के बाद मनु का और बातों में रुचि लेना, किरात—आकुलि के साथ मिल कर उसी नष्ट हुई देव संस्कृति को फिर जीवित करने का उपक्रम, आरंभिक आकर्षण का क्रमशः कम होते जाना, देव-दंभ तथा अहं और सत्ता-भाव का फिर उद—ा होना, मानव के जन्म की संभावनाओं के फलस्वरूप श्रद्धा का उसकी तै—ारी में लग जाना, मनु का श्रद्धा को उसी के हाल पर (गर्भवती श्रद्धा को) छोड़ कर कहीं दूर चले जाना, इड़ा के सारस्वत प्रदेश में जा कर नव निर्माण करना, अधिकार भाव को पुष्ट और पुष्टतर करते जाना, प्रजा पर अत्—ाचार, इड़ा पर अधिकार जमाना, जन-विद्रोह का सामना करना, श्रद्धा का वहाँ आना, मनु को इस हाल में देखना, मनु का वहाँ से चुपचाप चल देना, श्रद्धा द्वारा इड़ा के पास मानव को छोड़ कर, मनु की खोज में जाना और तीन लोकों की —ात्रा करते हुए फिर जीवन को जीने की गति में लाना, मानव तथा सारस्वत प्रदेश के लोगों के साथ इड़ा का मनु और श्रद्धा से मिलना और सामरस्—1 के संदेश के साथ कृति का अंत होना। —ही सामरस्—1 का संदेश (एक उच्च कुलोत्पन्न ना—क द्वारा ) कामा—नी को

औपन्—ासिक रचना-विधान के बावजूद एक महाकाव्य बनाए रखता है।

प्रसाद ने 'कंकाल' और 'तितली' उपन्यास सामाजिक समस्याओं को केंद्रीकृत कर लिखा, लेकिन 1936 से पहले 1929 में ही मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का लेखन शुरू हो चुका था। 1929 में प्रकाशित जैनैन्द्र कुमार का 'परख' उपन्यास है। अतः संभव है कि 'कामायनी' में उसके कुछ बीज निहित हों। हालाँकि —ह एक हा—पोथिटीकल विधान है, पर ऐसा सोचा तो जा ही सकता है। अहं और अधिकार भाव मनु का निर्माण करते हैं— जिससे उसका विकास और पतन दोनों ही होता है। सारस्वत देश का निर्माण और 'सब कुछ मेरा है और मेरे लिए बना है'— का उद्दाम भाव उसके पतन का कारण बनता है। इसमें स्वप्न की टेकनीक का प्र—ोग कि—ा ग—ा है। वरना श्रद्धा को उस स्थल तक पहुँचाना कठिन था, जहाँ मनु प्रजा के रोष के फलस्वरूप उपेक्षित और आहत पड़ा था। इसमें अपराध भाव भी है; इड़ा और मनु दोनों ही के पक्ष में इसे देखा जा सकता है; किन्तु अलग-अलग बिन्दुओं पर इसको अवस्थित कि—ा ग—ा है। श्रद्धा की उपस्थिति से इड़ा को अपने किए के प्रति अपराध इसलिए होता है कि एक अन्—ा स्त्री की पीड़ा और दुख में उसकी भूमिका निश्चित ही थी। —ह पॉजिटिव अपराध भाव है जिसके कारण वह मानव की देखभाल करने का तथा पुनः नगर निर्माण की दिशा में बढ़ती है। पर मनु में स्—ूडो- अपराध भाव है, जिसके कारण वह पला—न कर जाता है। और फिर —ह तीनों लोकों की —ात्रा व—ा है? —ह श्रद्धा द्वारा मनु का मनोवैज्ञानिक इलाज ही तो है। मनु —ाथार्थ का सामना नहीं करना चाहता। वह इतना साहसी नहीं है, पर श्रद्धा उसे ढूँढ़ती है और वह सब दिखाती है जो उसने कि—ा था और गलत था। उसे अपने स्मृति पथ की —ात्रा करवाती है। जैसे हिप्नोटीज़ कर के कोई डॉक्टर मरीज़ को उसके अवचेतन के अनेक स्तरों की —ात्रा करवाता है, कुछ इस तरह प्रसाद —हाँ करते हैं। पर प्रसाद जब इसे लिख रहे थे तब हिन्दी में मनोविश्लेषण की थि—ोरी अभी पूरी तरह अभिवाक्त नहीं हुई थी। अतः हम इसे इस रूप में देख सकते हैं— फ्रेड इज़ दी बेस्ट हीलर श्रद्धा ही वह काम करवा सकती थी।

मुक्तिबोध ने कामा-नी की जो ब-ाख-ा की है, वह भी कामा-नी को अपने सम-ा की मार्क्सवादी चेतना के साथ जोड़ देती है। ठीक इसी तरह हमारे अपने ( उत्तर-आधुनिक) सम-ा के संदर्भ भी उसमें जुड़े हुए दिखते हैं। इस बात पर गौर करना चाहिए कि इड़ा के मन में जो अपराध भाव है वह मनु के साथ किए गए उसके अपने अथवा प्रजा के ब-ावहार को लेकर नहीं है बल्कि एक अन्-ा स्त्री उसके कारण दुखी हुई है, -ह देख कर उसके मन में अपराध-भाव जागता है। -ह भी एक अजब बात है कि आज तक श्रद्धा और इड़ा को परस्पर विरोधी ही चित्रित कि-ा ग-ा है। सालों-साल -ही 'कामा-नी' पढ़ने वाले सभी विश्वविद्यालय-ों के अध-ापक पढ़ते रहे हैं और परीक्षा में विद्यार्थी लिखते जा रहे हैं। पर अगर आप काम-ानी की टैक्स्ट को गौर से पढ़ें तो मालूम होगा कि इड़ा और श्रद्धा के बीच एक तरह का बहनापे (sisterhood) का भाव है। तभी अपनी संतान को इड़ा के भरोसे छोड़ कर वह ( श्रद्धा) मनु की खोज में चल देती है। श्रद्धा इड़ा को सिर चढ़ी कहती अवश-ा है पर इड़ा के प्रति किसी विश्वास के कारण ही अपने पुत्र को, अपनी एकमात्र संतति को, उसके हवाले भी कर पाती है। -हाँ इस बात पर गौर करना चाहिए कि अंत में जब इड़ा उस स्थान पर जाती है जहां श्रद्धा और मनु है, तब भी मनु के प्रति किए गए ब-ावहार के लिए वह शर्मिन्दा नहीं है, न ही उसमें कोई अपराध-भाव है, पर जहाँ मानव श्रद्धा के अंक में समाता है वहीं इड़ा श्रद्धा के चरणों में -ह कहकर गिरती है कि उससे मिल कर वह कितनी कृतार्थ हुई है। श्रद्धा के प्रति कृतार्थता का बोध और अपने बचपने के प्रति सजगता तथा उसका श्रे-ा श्रद्धा को देना- एक अद्भुत बहनापे का बोध प्रकट करता है।

कामा-नी को पढ़ते हुए मुझे इस बात की भी प्रतीति हुई कि इसमें विस्थापन का विमर्श भी है। मनु हमारा पहला विस्थापित है। देव-संस्कृति का अंतिम प्रतिनिधि और मानव संस्कृति का आरंभकर्ता मनु अपनी इच्छा से विस्थापित नहीं हुआ था। पर विस्थापन के जो अनेक कारण हैं, जिनमें प्राकृतिक आपदा भी एक कारण माना जाता है, मनु उसी प्राकृतिक आपदा का शिकार हो कर हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठा हुआ अपनी बीती जिन्दगी को -ाद

कर रहा है। वह अपने जीवन को ठीक वैसे ही आरंभ करता है, जैसे वह पहले जी रहा था। वहाँ उसके अलावा कोई था नहीं। अतः इस उम्मीद में कि शा-ाद कोई और हो जीवित, उसी की तरह, इसलिए, वह अन्न-भाग रखता है। उसके पास कोई न-ा विकल्प नहीं था, जीवन के किसी नए प्रारूप पर सोचने के लिए कोई कारण -ा प्रेरणा भी नहीं थी। फिर उसकी भेंट श्रद्धा से होती है। श्रद्धा गंधर्व देश की रहने वाली है, इस उत्सुकता से वहाँ आ पहुँचती है कि- सीख लूं ललित कलाओं का ज्ञान- वह अपने पिता की प-ारी संतान है- अर्थात् अपने घर से किसी मजबूरी में -ा संकट में -ा दुखी हो कर नहीं चली थी पर अपने विकास के लिए चल पड़ी थी। विस्थापन का एक कारण -ह भी है। (इस तरह विस्थापित हो कर जो कहीं और जा कर रहते हैं वे, ही प्रवासी भी कहलाते हैं।)

श्रद्धा आ-ी तो थी ललित कलाओं का ज्ञान सीखने पर उसका जीवन किसी और दिशा में मुड़ जाता है। जैसा कि हम आगे चलकर देखते हैं कि मनु बहुत जल्दी ही श्रद्धा से विरत हो कर चला जाता है। वह अपनी इच्छा से, असंतुष्टि के कारण हिमप्रदेश छोड़ कर सारस्वत प्रदेश में आ पहुँचता है। वहाँ वह नव-निर्माण करता है, वर्ण तथा जाति-ों का निर्माण करता है, सारस्वत नगर के नूतन निर्माण में एक तरह से अपनी सत्ता की अभिव-क्ति पाता है। अपने अहम् का पोषण पाता है। लेकिन फिर अपनी ही वृत्ति-ों के कारण अपना अंत भी देखता है। फिर एक बार वह वहाँ से चल देता है, परन्तु इस बार पला-ान करता है और जैसा कि हम जानते हैं अंत में आनंद-लोक को प्राप्त होता है। अपनी अंतिम परिणति को प्राप्त करने तक मनु तीन बार विस्थापित होता है। श्रद्धा भी तीन बार विस्थापित होती है। परन्तु दोनों के कारण अलग-अलग हैं। दोनों के कारणों को अगर देखा जाए तो प्राकृतिक आपदा, नूतन ज्ञान की खोज, ब-क्तिगत अहं, स्वजन की चिंता, लज्जा (शर्मिंदगी) और एक हद तक लोक भ-ा- आदि कारणों से विस्थापन हुआ देखा जा सकता है। अंत में मनु-श्रद्धा जहाँ होते हैं, जिसे अब उज्ज्वलतम और पावनतम तीर्थ कहा जाने लगा था, वहाँ इड़ा का सबको ले कर जाना एक तरह का सामूहिक एकजोडस (स्थानांतरण) ही कहा

जा सकता है। इतिहास में प्रजाओं का इस तरह का एक्जोडस हुआ भी है। इड़ा सारस्वत प्रदेश के -ात्रि-ओं के साथ इसलिए जाती है कि-

सारस्वत नगर निवासी हम आए -ात्रा करने  
-ह व-ार्थ रक्त -जीवनपट जीवन -पी-ूष से भरने।  
इस वृषभ-धर्म प्रतिनिधि को उत्सर्ग करेंगे जाकर  
चिर-मुक्त रहे -ह निर्भ-ा स्वच्छन्द सदा सुख पाकर

समरसता को प्राप्त श्रद्धा और मनु का जहाँ निवास है वहाँ इड़ा जाती अवश-ा है पर वहाँ पहुँचने के पूर्व उसे -ह नहीं पता है कि वह तपस्वी जिसका आशीर्वाद लेने वह जा रही है वह मनु ही है। एक तरह से वह भूल से उस प्रदेश में पहुँचती है अथवा कहें सं-ोग से वहाँ पहुँचती है। मनु पर पुष्प अर्पित करती श्रद्धा का नितान्त आदर्शवादी दृश-ा अगर हमें खटके भी तब भी इस बात पर ध-ान देना अधिक महत्वपूर्ण है कि तमाम विस्थापनों को झेल कर मनु किस सत्-ा तक पहुँचते हैं। मनु का -ह कथन-

देखो कि -हाँ पर कोई भी नहीं परा-ा  
हम अन्-ा न और कुटुंबी हम केवल एक हमीं हैं  
तुम सब मेरे अव-ाव हो जिसमें कुछ नहीं कमी है।  
शापित न -हाँ कोई है तापित पापी न -हाँ हैं  
जीवन-वसुधा समतल है समरस है जो कि जहाँ है।

विस्थापित हो कर कहीं जा कर बसने वाले इसी बात के लिए लाला-ित रहते हैं कि उनका स्वीकार हो। इतने सारे विस्थापनों का अनुभव कर के स्व-ां मनु भी इसी भूमिका पर आते हैं।

इस तरह से इस रचना का -ह एक और न-ा आ-ाम खुलता है। कामा-ानी आज अपनी काव-ा-भाषा के कारण नई पीढ़ी के विद्यार्थि-ओं के लिए हिन्दी की कम संस्कृत की रचना अधिक लगती है। अपने -ुगीन और जटिल सौन्द-ाबोध के कारण क्लिष्ट भी लगती है, अतः उसकी टेक्स्ट को पढ़ना बहुत दूभर भी लग सकता है, कई बार। परन्तु इस बात को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कामा-ानी आधुनिक काल की ऐसी महत्वपूर्ण कृति के रूप में उभरती है जिसमें आने वाले -ुगों में भी नए संदर्भों के होने की संभावना से इंकार नहीं कि-ा जा सकता।

-ह भी एक विचार का विष-ा है कि भारती-ा परंपरा में गर्भवती स्त्रि-ओं को उनके हाल पर छोड़ देने की भी एक परंपरा है- सीता, शकुन्तला, माद्री, श्रद्धा.....आदि

पला-ानवादी पुरुष और संघर्ष करती स्त्रि-ां- भारती-ा साहित्-ा का एक अविभाज्-ा हिस्सा है। आज भी इस तरह के कथानक सामज-जीवन में देखे जा सकते हैं।

संपर्क : 09426700943

## जयशंकर प्रसाद की कविता 'प्रलय की छाया'

डॉ. कमल कुमार

जयशंकर प्रसाद के 'लहर' संग्रह में 'प्रलय की छाया' कविता को पढ़ते-पढ़ते बार-बार मेरा स्त्री मन सवालों से घिरा जाता है। यदि स्पष्ट कहती हूँ तो प्रसाद जैसे महान कवि पर दोषारोपण की गुनहगार करार दी जा सकती हूँ। परंतु सवाल इतने पैसे हैं कि वर्षों से भीतर रूंधे शूल की तरह बेध रहे हैं। 'प्रलय की छाया' में कमला के प्रति रचनाकार की इतनी प्रतिगामी पुरुष दृष्टि क्यों? इतिहास की कमला, उस वीरांगना और तेजस्विनी स्त्री के साथ प्रसाद न्याय क्यों नहीं कर पाए!

'प्रलय की छाया' की कमला एक ऐतिहासिक पात्र है। वह गुजरात के राजा कर्णदेव की पत्नी थी। ऐसे समय जब दूसरे राज्यों के राजा भयभीत होकर मुस्लिम शासकों के सम्मुख समर्पित हो रहे थे, कमला ने अपने पति को प्रेरित किया कि वह यवन पताका के नीचे सिर न झुकाए और अपनी स्वतंत्रता और इयत्ता की रक्षा करें। कमला वीरांगना की तरह पति के साथ अलाउद्दीन के विरुद्ध युद्ध भूमि में गई। उसका पति राजा कर्णदेव शक्तिशाली यवन सेना सम्मुख नहीं ठहर सका और उसे लौटना पड़ा। मार्ग में यवन सैनिकों ने उन पर आक्रमण किया। कर्णदेव उनके साथ घात-प्रतिघात के क्रम में दूर निकल गया और कमला को बंदिनी बना लिया गया। उस समय कमला के सामने पद्मिनी का आदर्श था कि वह अपने सम्मान की रक्षा के लिए जौहर की ज्वाला में कूद जाए या कैसे भी आत्महता बने। परंतु कमला मरण को नहीं अपनाती। वह सोचती है 'जीवन अलभ्य है, जीवन सौभाग्य है।' ततारी दासियां उसे सुल्तान के सम्मुख प्रस्तुत करती हैं। कमला प्रतिशोध अथवा अपनी रक्षा के लिए मणि मेखला में छिपी कटार निकाल लेती है। कटार उससे छीन ली जाती है। अलाउद्दीन व्यंग्य करता है कि भारत की स्त्रियों का एक मात्र धर्म मरण ही है। उसने पद्मिनी को खो दिया परंतु वह कमला को नहीं खोना चाहता। वह कहता है 'कमला उसकी प्रार्थनाओं में बंदी होगी। निज कोमलता और मानस की माधुरी से अगर चाहे तो उसकी क्रूरताओं पर शासन करेगी।' वह उसे विचारार्थ समय देता है।

तभी एक दिन दास मालिक किसी तरह कमला तक पहुंच जाता है और उसे राजा कर्णदेव की आज्ञानुसार आत्मरक्षा के लिए विष खाने को कहता है। कमला भावना के परिवर्तन में सोचती है कि कर्णदेव गुजरात नरेश स्वयं तो जीवित रहें और उसे जीवन लीला समाप्त करने का संदेश भेजा। वह तो स्त्री थी बंदिनी हुई परंतु प्राणों के लोभ ने उन्हें क्यों बचा लिया? क्या उनके मन में देश या फिर उसके प्रति भी सच्चा प्रेम था! उस प्रत्यावर्तन में जो स्वयं प्राण नहीं दे सका, वह उसे मरण का संदेश भेज रहा है? तभी सुरक्षाकर्मियों द्वारा मालिक पकड़ा जाता है। उसे सुल्तान के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है और सुल्तान उसे मृत्युदंड की आज्ञा देता है।

अचानक करुणा से करुणार्द्र हो कमला निवेदन कर बैठती है 'इसे छोड़ दीजिए।' सुल्तान 'रानी की पहली आज्ञा है' कहकर कमला को संबोधित कर परास्त करता है और मालिक को छोड़ दिया जाता है।

अलाउद्दीन की शक्ति और वैभव को देखकर कमला के हृदय में भारतेश्वरी बनने की महत्वाकांक्षा जागृत होती है। वह सोचती है उसके रूप ने उसे गुजरात की रानी बनाया था। अब उसी रूप पर मुग्ध सुल्तान उसे भारतेश्वरी बनाना चाहता है। सुल्तान के शब्द उसे उद्वेलित करते हैं। अंततः कमला की जिजीविषा और भारतेश्वरी बनने का प्रलोभन-भाव विजयी होता है। कमला सुल्तान की शक्ति बनी। नृशंस क्रूरताओं का साम्राज्य चलाने वाला सुल्तान उसकी कृपाकोर को निरखने लगा। कमला की अनुकंपा और अनुग्रह से लोगों का भाग्य लिखा जाता है। कन्या कुमारी से हिमालय के श्रृंग तक उसका शासन फैला। कमला की अनुकंपा से राजा मुकुट पहनते या उनके सिर धरती पर लोटते। लेकिन समय की आंधी से आजीवन दास रहा मालिक काफूर एक दिन अलाउद्दीन की हत्या कर देता है और अपने रक्त रंजित हाथों से अपने सिर पर मुकुट पहन लेता है। उस समय अवश्य ही कमला की स्थिति विचित्र हुई होगी।

इतिहास के किसी पात्र या घटना को साहित्य में प्रस्तुत करने का उद्देश्य इतिहास की पुनरावृत्ति तो नहीं होता। निश्चित उसके माध्यम से अपने संदर्भ में रचनाकार कुछ विशेष कहता है। इतिहास में कमला की कहानी एक स्त्री की महत्वाकांक्षा की विजय गाथा है। साथ ही उसका अंत स्त्री होने की विडंबना भी है। इस कथा को प्रसाद ने अपनी लंबी कविता 'प्रलय की छाया' में सिरजा परंतु अपनी पुरुष मान्यताओं और पूर्वाग्रहों की चकाचौंध में कमला के चरित्र को धूमिल कर दिया। उनकी पुरुषवादी दृष्टि के दबाव में कमला का ऐतिहासिक किरदार कहीं खो गया। औरत की कैमिस्ट्री और फिजिक्स से लापरवाह तथा अपनी प्रतिगामी दृष्टि के कारण प्रसाद ने उसे रूपगर्विता मोहांध स्त्री की त्रासद कथा बनाया। प्रसाद के साहित्य में इतिहास वृत्तों में पुरुष नायकों की प्रशस्तियाँ हैं। उनकी वीरता और स्वाभिमान के लिए हर तरह का जोखिम उठाने और अपना

सब कुछ न्यौछावर कर देने का गुणगान है। वहीं स्त्रियों के लिए जीवन का इकहरा मानदंड पतिव्रत धर्म या मरण को जीवन का लक्ष्य माना गया है। यह भी सत्य है कि साहित्य में इतिहास का पात्र पूरा वास्तविक या पूरा काल्पनिक नहीं होता। लेखक के पास यह छूट होती है कि वह उसके कौन से पक्ष को प्रमुखता दे और उद्घाटित करे। उसी की अनुरूपता में वह उस पात्र का पुनर्सृजन करता है। कमला मानक पुरुष दृष्टि से अपना जीवन तय नहीं करती। वह अपनी इच्छाओं और महात्वाकांक्षाओं की आपूर्ति द्वारा स्त्री की सामाजिक इयत्ता से अलग अपनी इयत्ता को महत्त्व देती है। एक तरह से अपनी इयत्ता पर धर्म, समाज और रूढ़ मान्यताओं की मैपिंग (चस्पाँ) नहीं करती। वह पुरुष समाज द्वारा निर्मित निष्कर्षों द्वारा जीवन जीने के लिए अपने को अभिशप्त नहीं करती। इस प्रकार कमला का चरित्र बीसवीं शताब्दी के अवसान और इक्कीसवीं शताब्दी के द्वार पर स्त्री विमर्श से जुड़े गहरे सवाल से जुड़ जाता है किंतु प्रसाद की पुरुष-दृष्टि इतिहास और यथार्थ की संश्लिष्ट पतों में खोए कमला के स्त्री चरित्र की सही पहचान नहीं कर सका।

कमला की महत्ता और उसका चरित्र कई सवाल उठाता है। मानव मुक्ति अर्थात् स्त्री मुक्ति का प्रश्न, स्त्री की स्वतंत्र चिंतन का प्रश्न, स्त्री की महत्वाकांक्षाओं की आपूर्ति और उसकी सत्ता के अधिकार का प्रश्न। प्रसाद ने अपने संकीर्ण मानदंडों के कारण भ्रम की स्थिति उत्पन्न की है। इसे 'आप्टिकल इल्यूशन' भी कहा जा सकता है। रचनाकार कमला की निर्भीकता, उसके साहस, स्वतंत्र चिंतन और स्वाभिमान होने की कलात्मक संवेदना और मर्म दृष्टि से देखने की अपेक्षा उसे निश्चित, नियमित और मर्यादित स्त्री की अवधारणा में देखता है।

कमला जीवन को सौभाग्य और अलभ्य मानती है इसलिए वह मरण की अपेक्षा जीवन को चुनती है। इसलिए दास मालिक की प्राण रक्षा के लिए सुल्तान से प्रार्थना करती है। अतः कमला की जिजीविषा के और जीवन-दृष्टि को गूढ़ मानवीय संदर्भों और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परखा जा सकता है। स्त्री का सिर्फ सामाजिक यथार्थ ही नहीं होता। उसका एक मनोगत यथार्थ भी होता है। उसके

अपनी तरह जीवन जीने के निर्णय, इच्छा, तृप्ति आकांक्षा और महत्वाकांक्षा की आपूर्ति के उसके अपने जस्टीफिकेशन भी होते हैं जिसे स्त्री के गूढ़ मनोजगत में प्रवेश किए बिना नहीं जाना जा सकता। इसलिए कमला को मात्र आत्म विमुग्ध और सौंदर्य के अहंकार में चूर चित्रित करना उसके प्रति अन्याय है। वीरता, निर्भोक्ता और देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए युद्ध भूमि में कमला का पति के साथ जाना और यवन पराधीनता को न स्वीकारना यह दर्शाता है कि कमला में प्रखर सामाजिक और राजनैतिक बोध था परंतु प्रसाद जी कमला के चरित्र के इन महत्त्वपूर्ण पक्षों की उपेक्षा करते हैं क्योंकि कमला पद्मिनी की तरह जौहर की ज्वाला में अपने को भस्म कर देने वाली आत्महंता परंपरा का पालन नहीं करती। वह जीवन को सौभाग्य मानती है। सिर्फ अपने लिए नहीं दास मालिक के लिए। इसीलिए वह उसके लिए भी वही मार्ग चुनने का आदेश देती है जो उसने अपने लिए चुना था।

रचनाकार के पूर्वाग्रहों के कारण इस स्वाभिमानी, आत्मचेता, वीर और मौलिक चिंतनवाली स्त्री का चरित्र हनन हुआ। कवि कमला के चित्रण में पुरुषवाद से विसंग नहीं हो पाया इसलिए वह उसे शापित करता है। उसे अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए दंडित करता है। उसे दयनीय और पराजित दिखाकर एक सैडिस्ट प्लेजर लेता लगता है। वह उसके पराक्रम, उसकी विजय, उसके एकछत्र राज्य और शक्तिमत्ता को उद्घाटित ही नहीं करता। कमला को रूढ़ व्यवस्था में परिवर्तन का अग्रदूत कहा जा सकता था परंतु प्रसाद ने उसे पतित स्त्री के रूप में चित्रित किया जबकि स्त्री जीवन के निकषों पर कमला की सहज इच्छाएँ, उसकी जिजीविषा और भारतेश्वरी के रूप में उसका व्यक्तित्व दमकता हुआ है। वह स्त्रित्व के नीले आकाश में तारे की तरह चमकती है। कमला आधुनिक स्वतंत्र चेता स्त्री की संवेदना से संबलित है लेकिन प्रसाद उसमें यह स्त्री नहीं देखते। अपने पुरुष मानदंडों और मान्यताओं के कारण पाठकों को भी दिग्भ्रमित करते हैं। वह देह की रक्षा को सर्वोपरि मानकर आत्महंता स्त्री को गर्वान्वित करते हैं। तर्क से समझा जाए तो जौहर प्रथा सती

प्रथा का ही प्रारूप और ग्लोरिफाइड रूप नहीं है क्या? यह प्रथा भी उतनी ही आपराधिक, अमानवीय, अन्यायपूर्ण और बर्बर नहीं है क्या? इसका पालन न करने पर वे कमला को धिक्कार योग्य मानते हैं। उसके चरित्र को 'फंडामेंटल लॉ ऑफ एब्सर्डिटी' के आधार पर ही सिद्ध करते हैं। परिस्थितियों के झंझावात ने उसकी सत्ता छीन ली और प्रसाद उसकी प्रताड़ना का अवसर पा गए। रचनाकार की दृष्टि में स्त्री की परिकल्पना में अस्मिता बोध नहीं है। उसकी सामाजिक अस्मिता ही मान्य है। कमला स्वाभाविक जीवन की अनुरूपता में जी, जीवन को ईश्वरीय वरदान माना और मरण का उत्सव नहीं मनाया। वह अपने समय की रूढ़ियों के विरुद्ध खड़ी हुई, अपने जीवन के लिए स्वतंत्र निर्णय लिए। जीवन के प्रति उसमें अप्रतिम निष्ठा और साहस था फिर भी वह रचनाकार के कोप का भाजन बनी। कमला इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण पात्र है जो अपने समय और समाज के साथ तर्कपूर्ण संगम स्थापित करती है। उसकी उपस्थिति को इतिहास में भिन्न कारणों से दर्ज किया जाना चाहिए था। वह स्त्री के लिए पुरुष की षड्यंत्रकारी और आत्मघाती जीवनशैली का विरोध करती है। वह समाज की असंगतियों और विडंबनाओं को परखती है। जीवन के प्रति उसकी अपनी दृष्टि है और जीवन को वह अपने ही निष्कर्षों पर जीती है; दी गई और स्थापित रूढ़ियों और मान्यताओं को तोड़ती है। यदि प्रसाद का पुरुष कमला की कथा में इंटरवीन नहीं करता तो कमला के माध्यम से वे स्त्री की सोच, उसका सपना अपने प्रति उसकी प्रतिबद्धता और अपने निर्णय स्वयं लेती एक साहसी स्त्री की कथा कह सकते थे। तब प्रसाद के दूसरे कई स्त्री चरित्रों की तरह कमला का चरित्र भी उद्भाषित हो सकता था। कमला अपनी मुक्ति और अपने राज्य की मुक्ति की कामना एक साथ करती है। वह अपनी दीप्ति से दीप्त स्त्री है जो पुरुषवादी षड्यंत्रपूर्ण गौरव गाथाओं के मकड़जाल में नहीं फंसती। सत्ता संपदा तथा वैभव के सुखों को भोगती है। स्त्री जीवन के क्षितिज पर अपनी आकांक्षाओं के इन्द्रधनुष सजाती है उस पौरुषपूर्ण समय में कमला का प्रखर स्त्रीबोध सराहनीय है।

संपर्क : 09810093217



## जयशंकर प्रसाद की मृजल-यात्रा में नियतिवाद का अन्तर्दर्शन

देवनाथ सिंह आनंद गौतम

कीर्तिशेष प्रसाद जी नियतिवादी थे। नियति में उनका गाढ़तम विश्वास था। उनके साहित्य में नियति शब्द कुल 66 बार आया है। 'कामायनी' में 11, 'आँसू' में 2, 'लहर' में 3, 'कानन-कुसुम' में 3, 'अजातशत्रु' में 2, 'चन्द्रगुप्त' में 6, 'ध्रुवस्वामिनी' में 2, 'कामना' में 1, 'जनमेजय के नागयज्ञ' में 12, 'राज्यश्री' 1, 'कंकाल' में 7, 'तितली' में 4, 'इरावती' में 2, 'आकाशदीप' में 1, 'इन्द्रजाल' में 1, 'आँधी' में 4, काव्य कला तथा अन्य निबंध में 2, और चित्राधार में एक बार आया है।<sup>1</sup>

कवि का आत्ममस यदि उसके काव्य में सच्चाई के साथ अभिव्यक्त हुआ है, तो काव्य में उसके जीवन का आभास पाया जा सकता है। काव्य के अन्तर्वृत्ति-मूलक विश्लेषण से कवि के अन्तःकरण का पता चलता है, यहाँ तक कि उसका हेतु, मनोभाव, लालसा और वासना सबकी झलक मिल जाती है। इसके अभाव में हम उसके जीवन-उद्देश्य एवं अभिताप को अच्छी तरह नहीं समझ सकते। मनोवैज्ञानिक भी यह स्वीकार करते हैं कि जीवन की कितनी ही मानव-वृत्तियाँ ऐसी हैं जो अर्द्धचेतनावस्था में जन्म लेती हैं तथा कवि की काव्य-प्रवृत्ति एवं कल्पना पर प्रभाव डालती हैं। वैदिक ऋषि- कवि ने कहा है-

“कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते-”

(अपने बनाए हुए संसार में ही पुरुष उत्पन्न होता है।)

श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं .... कृष्ण कहते हैं- “यों पच्छद्ध एव सः” (जिसकी जैसी श्रद्धा है, वही स्वयं वही है।) गोस्वामी तुलसीदास ने तो रामचरितमानस में कहा है- ‘जाकी रही भावना जैसी, प्रभु-मूरत तिन देखी तैसी।’ भावना के अधीन ही उसकी अनुभूति होती है। भाव जहाँ जितना सघन होता है, उसके अनुकूल वहाँ वैसी ही छवि निरूपित होती है।

जयशंकर प्रसाद का व्यक्तित्व एवं कृतित्व भी एक-दूसरे के पूरक हैं। वैयक्तिक होकर भी उनका कृतित्व निर्वैयक्तिक था। प्रसाद जी के ‘नियति’ संबंधी विचार के मूलस्रोतों को यदि हम ढूँढ़ें तो यही पाते हैं कि उनके प्रारंभिक दुःसमय का जीवन ही इसका मूल उद्गम

है। उनके पिता, माता, बड़े भाई तथा दो धर्म पत्नियाँ उनके देखते-देखते चल बसीं। उनके परिवार का, किसी का भी कुछ वश प्राकृतिक शक्तियों तथा कार्यों पर न चल सका। आगे चलकर प्रसाद जी के वैयक्तिक प्रेम-संबंधी असफलता एवं निराशा ने इनके नियतिवादी होने में योगदान दिया, उनके नियति संबंधी विचारों को दृढ़तर कर दिया। पर प्रसाद जी ने जीवन के झंझावातों को बड़े विश्वास और साहस से झेला। 'स्कन्धगुप्त' नाटक जो प्रसाद जी की अन्यतम कृति है, जिसमें उनका नाट्य-वैभव एवं काव्य-वैभव घुल-मिल गया है, उसका यह गीत उनके जीवन का साक्ष्य है- "सब जीवन बीता जाता है। धूप-छाँह के खेल सहस/ सब जीवन बीता जाता है/ समय भागता है प्रतिसर्ग में/नव-अतीत के तुषार-कण में/ हमें लगाकर भविष्य रण में/ आप कहाँ छिप जाता है/ सब जीवन बीता जाता है।" स्वयं प्रसाद जी का जीवन भी धूप-छाँह की भांति बीता तथा अतीत की मधुर यादों को संजोकर वे शैशव-भावी रण की ओर बढ़े। साथ ही आँधियों, तूफानों एवं झंझावातों को उन्होंने जीवन का नाता समझा और सदैव यही कहा-

वंशी को बज जाने दो  
मीठी भीड़ों को आने दो  
आँख बंद कर गाने दो  
जो कुछ हमको आता है।  
सब जीवन बीता जाता है।

'स्कन्दगुप्त' में संकलित यह पद 'हंस' के आत्म-कथांक में प्रकाशित हुआ, जो उनके जीवन का प्रतिबिंब है। इसमें उनके जीवन की घनीभूत काया स्वतः स्पष्ट है।

प्रसाद जी का कृतित्व उनके व्यक्तित्व के समानान्तर चलता रहा। छायावाद के जो चार स्तंभ- प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी कहे गये हैं, उनमें दूसरे महाकवि निराला ने प्रसाद के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को किस मनोहर भाव से काव्य पंक्तियों में बाँच दिया है। देखें-

तुम वसंत में मृदु सरसी के सुप्त सलिल पर,  
मंद अनिल से उठा गये हो कंप मनोहर।  
कलियों में नर्तन, भौरों में उन्मद गुंजन,  
तरुण-तरुणियों में सतनिधि जीवन व्रत भुंजन  
स्वप्न एक आँखों में, मन में, लहर एक स्थिर,

पार उतरने को संस्कृति में एक टेक चिर।

और महादेवी के शब्द हैं-"हिमालय की ढाल पर उसकी गर्विली चोटियों से समता करता हुआ एक ऊँचा देवदारु का वृक्ष या उन्नत और विस्तृत परिणामतः चरम विषम में वह देवदारु अपने चारों ओर के वातावरण को सौ सौ ज्योति चक्रों में मथता सदा धरती पर छाया रहा।" प्रसाद वही देवदारु थे। वे अतलांत गंभीर जलधि थे और हिमालय सदृश्य उतुंग लता कलित शुचि सानू शरीर भी।

प्रसाद मेरे सर्वाधिक प्रिय कवि रहे हैं। ब्रह्मदेव मिश्र ने मेरे प्रसाद प्रेम का एक संकेत अपने समीक्षाग्रंथ 'सत्रधारा विमर्श' में संकेतित किया है। वे लिखते हैं कि "गाँव से मिडिल स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करने के बाद, वाराणसी के डी.ए.वी. इंटर कॉलेज में विज्ञान पढ़ने के लिए जब आनंद गौतम ने नाम लिखाया, तो विज्ञान के विद्यार्थी होने के बावजूद वे सर्वप्रथम गोवर्धन सराय और लमही क्रमशः प्रसाद एवं प्रेमचंद की जन्मभूमि देखने उनके आवास पर गये। और उन्हें देखकर, अपने को धन्य माना।" (सत्रधारा विमर्श, डॉ. ब्रह्मदेव मिश्र, प्रकर्ष प्रकाशन, वाराणसी, 2012, पृ. 16) आज मुझे 'मुक्तांचल' के माध्यम से प्रसाद के सबल व्यक्तित्व एवं कृतित्व को जो प्रणाम करने का सुयोग मिला है वह भी इन्हीं का प्रेम है, अस्तु। एक भारतीय आत्मा ने ठीक ही कहा था कि "प्रसाद की रचनाएँ दर्शन का काव्य नहीं हैं, वे काव्य का दार्शनिक विश्लेषण हैं।... सूझ नयी, शक विन्यास नये, प्रकटीकरण का तौर-तरीका नया, पहुँच नई किंतु सांसें की तरह विश्वास पुराना! वाणी के बोले हुए युग प्रसाद की विश्वास की वस्तु न थे। वे युगों की बोली हुई वाणी को संवारने वाले थे।... प्रसाद की याददाश्त देखिए, जब मैं इस घटना (1913) ई. के 19 वर्ष बाद सन् 1932 में शांति निकेतन से लौटते हुए मैं उनसे पहले पहले मिला, तब उन्होंने हँसकर कहा, अब आपको विश्वास है कि मेरी वह कृतियाँ अनुवाद नहीं होती। इसके बाद हम दोनों हँसते रहे।<sup>2</sup>

हर साहित्य प्रथमतः और अंशतः समकालीन है। किसी महान रचना से गुजरना अपने समकालीन से गुजरना है। आँसू एक ऐसी ही रचना है। साहित्य की प्रक्रिया मनुष्य के स्पंदन के साथ जुड़ी हुई है जिसमें स्मृति का महत्त्व है।

प्रत्येक मनुष्य के दिल दिमाग में एक कलाकार और वैज्ञानिक घुला-मिला रहता है, उसका नाम है स्मरण। वही विविध प्रकार की कल्पनाओं से विविध प्रकार के स्मारक रचता है, तथा नये-नये प्रयोग करता है। स्मृति की वर्तमानता संप्रति, और संप्रति में मनुष्य की संस्कृति सोयी रहती है। इन तीनों के सांसमय संयोग से काव्य का सृजन होता रहता है। काव्य ही, ज्ञान-विज्ञान या मनुष्य की बौद्धिक चेष्टा उसके पीछे ऊर्जा रहती है। इसी को ऋषि ने मंत्रायत करते हुए कहा है- “अग्नि त्वं जागृति वयम् समदिशी मही।” अग्नि का उत्खनन करते रहो, अग्नि कंपने न पाये, यही भारतीय वाङ्मय का मूल स्वर है।

प्रसाद की कविता में काव्य और जगत ऐसे घुल मिलकर बैठे हैं कि प्रसाद की रचना के कण-कण और क्षण-क्षण को समझना दुर्लभ लगता है। प्रसाद का ‘आँसू’ क्या है? उनकी प्रारंभिक पंक्तियों में कहा गया है-

जो घनीभूत पीड़ा थी  
मस्तक में स्मृति सी छायी।  
दुर्दिन में आँसू बनकर  
वह आज बरसने आयी।

इस तरह हम देखते हैं कि आँसू का आरंभ वेदना के क्रंदन तथा उस घनीभूत पीड़ा के साथ होता है जो कभी कवि के मस्तक में स्मृति के समान छायी थी और आज वह दुर्दिन (दुर्दिन कहते हैं, जब आकाश में सूर्योदय नहीं दिखलायी देता है, ऐसी बरसात) में ताजी होकर फिर से बरसने आ गयी है। अतः स्पष्ट है कि ‘आँसू’ का उदय स्मृतियों से ही हुआ है। आज ‘आँसू’ की प्रेममीमांसा करते हुए मुझे अपने ही काव्य संग्रह ‘विभावरी’ के पुरोवाक् कुछ शब्द याद आते हैं- “विभावरी की विभा को बच्चे अपने ढंग से देखते हैं, हर तारा उन्हें दूध की छिटकी बूँदे लगता है, तो युवा- विरही अपने रंग में सारी रात तारें गिनता है, प्रौढ़ व्यक्ति के लिए विभावरी स्मृतियों की एक बस्ती बन जाती है-

बस गयी एक बस्ती है  
स्मृतियों की इसी हृदय में  
नक्षत्र लोक फैला है  
जैसे नील निलय में। (आँसू)

‘विभावरी’ को बचपन से लेकर पौढ़ अवस्था तक मैंने कभी खिड़कियों, कभी खुली छतों, कभी खुले मैदानों और कभी पहाड़ों की चोटियों से देखा है। ये वसंत कभी विरहिणी की आँसुओं की तरह लगते हैं- “अश्रुमय सुंदर विरह निशीथ भरे तारे न ढुँलते आह। श्यामा का नतदान मनोहर- मणि मुक्ताओं से संग्रथित रहा।” (आँसू)। प्रसाद जी कहते हैं कि ये आकाश के नक्षत्र नहीं, यह तो मेरी स्मृतियों का मेला है। आँसू के लौकिक और अलौकिक दोनों पक्ष हैं, आँसू का अध्ययन करते समय हमें इसे ध्यान रखना चाहिए।

अब जैसा कि मैंने पूर्व में भी उल्लेख किया है ‘आँसू’ में ‘नियति’ शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है

1.  
नचति है नियति नटी सी  
क्रंदन क्रीड़ा सी करती।  
इस व्यथित विश्व आँगन में  
अपना अतृप्त मन भरती।
2.  
संकेत नियति का पाकर  
तम से जीवन उलझाये  
जब सोती गहन गुफा में  
चंचल लट को छिटकाये।

उपरोक्त ‘आँसू’ के अन्तर्गत कवि के नियति संबंधी विचार सिद्धांतवाद के रूप में गृहीत होंगे, अर्थनाद के रूप में नहीं। ‘आँसू’ में नियति को कवि ने ‘निष्ठुर’, ‘निर्दय’ एवं ‘निर्माही’ माना। मनुष्य की इच्छा के विपरीत उसका कार्य चलता रहता है।

‘नियति’ शब्द का प्रयोग प्रसाद ने जिस अर्थ में किया वह शैव दर्शन से अनुप्राणित है। शैव सम्प्रदाय में विश्व अभिव्यक्ति के कर्त्ता की चर्चा में आभास को छत्तीस तत्त्वों में बाँटा गया है। यह विभाजन आगम पर आधारित है। यह छत्तीस तत्त्व इस प्रकार हैं-

1. शिव, 2. शक्ति 3. सदाशिव 4. ईश्वर 5. सद्बिद्या 6. माया 7. कला 8. विद्या 9. राग 10. काल 11. नियति 12. पुरुष 13. प्रकृति 14. बुद्धि 15. अहंकार 16. मन 17-21 पाँच ज्ञानेंद्रिया 22-26. पाँच कामेंद्रिया 27-31.

पंचतन मात्राएँ 32-36. पंच महाभूत

टिप्पणी- इनमें अंतिम पच्चीस तत्त्व (12-36) सांख्य के तत्त्वों के समान। छठा तत्त्व माया-वेदांत के साथ समान है और शेष दस अद्वैत एवं द्वैत शैवदर्शन दोनों में समान हैं।<sup>3</sup>

‘नियति’ शब्द के मूल में ‘यम्’ धातु विद्यमान है। इस धातु के दो अर्थ हैं- उपरम और परिवेषण। उपरम में साधारणतः विरति, पर्यवसिति, मृत्यु आदि अर्थ द्योतित होते हैं और परिवेषण में घेरना, बाँधना, परिधिगत करना, आच्छादित करना आदि अर्थ विवृत होते हैं। नियति की व्युत्पत्ति- ‘नियति’- नियम्यते अनया नि- यम- करणे। (क्तिन् प्रत्यय), भाग्य, दैव, अदृष्ट अवश्य होने वाली बात। नियति नियमन करने वाला तत्त्व है, जो केवल परजीवों का ही नहीं, अपितु अचर पदार्थों का भी नियमन करती है। अभिनव गुप्त का तो यहाँ तक कहना और मानना है कि कौन-सा व्यक्ति किस समय क्या-क्या कार्य करेगा, यह सब नियति की प्रेरणा से होता है- नियतियोज जयत्येनं स्नके कर्माणी पुद्गलम्” (मालिनी विजय वार्तिक, अभिनव गुप्त 1/29)

संस्कृत के अमरकोश में नियति के छः नाम दिये गये हैं- “दैव दिष्ट भागधेयं भाग्यं स्त्री नियति विधि” (प्रथम कांड काल वर्ग, श्लोक 28)। ये छः नाम भाग्य (तकदीर) के हैं, जिनमें चार नपुंसक हैं। नियति शब्द स्त्रीलिंग और विधि पुलिंग है। आपटे संस्कृत-हिंदी कोश में नियति का अर्थ है नियमग्र, प्रतिबंध, भाग्य, प्रारब्ध, भवितव्यता, किस्मत (बुरी हो या अच्छी) दिया हुआ है। हिंदी के संक्षिप्त शब्द सागर तथा मानक हिंदी कोश (तीसरा खंड) में भी नियति का अर्थ भाग्य या दैव, अदृष्ट, संयोग, अवश्य होने वाली बात अर्थात् ईश्वर या प्रकृति का विधान, जो पहले से ही नियत होता है और जिसके अनुसार सब कार्य अपने समय पर बिना किसी व्यतिक्रम के और अवश्यंभावी रूप में आपसे आप होते चलते हैं। हिंदू धर्मकोश (राजबली पांडेय) के अनुसार- “शाक्तमत के अनुसार प्राथमिक सृष्टि के दूसरे चरण में शक्ति के मूर्ति रूप का सामूहिक प्रकटन कूटस्थ पुरुष तथा माया शक्ति के रूप में होता है।... माया से नियति भी उत्पन्न होती है, जो सभी वस्तुओं को नियमित

करती है। फिर नियति से काल उत्पन्न होता है जो चालक शक्ति है।<sup>4</sup>

योग वशिष्ठ 10/1, 11/47, 37/22 के विविध श्लोकों में यह मत प्रतिपादित किया गया है कि नाना प्रकार के पदार्थों में, नाना प्रकार के स्वभाव नियत करने वाली यह नियति एक रूपिणी है, जो प्रत्येक पदार्थ में अधिष्ठान रूप में विद्यमान रहती है। त्रिण से लेकर महारुद्र जितने पदार्थ हैं, उन सब में नियम निर्धारित करने वाली शक्ति ही नियति कहलाती है इसे ही तंत्रालोक में कार्य कारण की योजना करने वाली कहा गया है, दैव भाग्य, विधि, अदृष्ट, प्रारब्ध, भवितव्यता आदि इसी सत्ता के अन्य नाम हैं। मानविकी पारिभाषिक कोश (दर्शन खंड) तथा दर्शन कोश (रूसी भाषा से हिंदी अनुवादित) आदि कोशों को जिज्ञासु पाठक नियति की विस्तृत व्याख्या हेतु देख सकते हैं। आलेख का कलेवर बढ़ जाने के भय से हम मात्र उल्लेख भर कर दे रहे हैं।

अतः यह नियति जिसे भारतीय दार्शनिकों ने ऋत, अपूर्व और अदृष्ट आदि शब्दों से भी परिभाषित किया है, भारतीय दार्शनिकों का अटूट विश्वास वैदिक युग से ही चला आ रहा है, इसे वेद में ऋत कहा गया है जहाँ बतलाया गया है कि तीनों लोकों की घटनाएँ ‘ऋत’ का विधान है, अर्थात् सभी घटनाएँ ‘ऋत’ के अनुसार होती हैं, इसे मीमांसा में ‘अपूर्व’ कहा गया है।

प्रसाद जी के ‘आँसू’ और ‘कामायनी’ में नियतिवाद पर उनके अटूट विश्वास का परिचय मिलता है। ‘आँसू’ में जहाँ केवल दो बार नियति का प्रयोग मिलता है वहीं ‘कामायनी’ में 11 बार नियति शब्द का प्रयोग मिलता है। प्रसाद मानते हैं कि इस नियति रूपी नियामिका शक्ति से समस्त विश्व बँधा हुआ है। वे कहते हैं- “विश्व बँधा है एक नियम से।”

कामायनी में नियति का स्वरूप बहुत की व्यापक एवं भव्य है। वह व्यक्ति के ही कर्मों का फल देने वाली नहीं है अपितु प्रकृति, समाज, राष्ट्र, विश्व सभी की कर्म दिशा की संचालिका शक्ति है- “नियति चलाती कर्म चक्र यह...” (रहस्य सर्ग)।

‘आँसू’ में प्रसाद की वैयक्तिक अनुभूति की प्रबलता

के कारण, प्रसाद की नियति का स्वरूप निष्ठुर, दुःखद, त्रासद एवं अंध रूप में दिखलायी देता है किंतु कामायनी तक आते-आते प्रसाद की नियति का स्वरूप परम उदात्त तथा निर्वैयक्तिक हो गया है। कामायनी में नियति एक अज्ञात तथा अलौकिक वास्तविकता के रूप में दिखाई पड़ती है, जिसके भीतर विश्व व्यापक शक्तियों का समावेश है। इसके अलावा कामायनी में त्रिपुर वर्णन हुआ है जिसे यहाँ इच्छा कर्म और ज्ञान का लोक कहा गया है। संसार में सभी लोग किसी न किसी इच्छा के संपादन के लिए व्याकुल रहते हैं- यह भी नियति की ही प्रेरणा है-

*सबके पीछे लगी हुई है, कोई व्याकुल नयी एषणा।*

*श्रममय कोलाहल, पीड़नमय विकल, प्रवर्तन महायंत्र का।  
क्षण भर भी विश्राम नहीं है, प्राण दास है क्रिया-तंत्र का।*

भाव-राज्य के सकल मानसिक सुख यों दुःख में बदल रहे हैं। (पृ. 274, रहस्य सर्ग)

*नियति चलाती कर्म-चक्र, तृष्ण-जनित ममत्व वासना,  
पाणि पादमय पंचभूत की, यहाँ हो रही उपासना।*

*यहाँ सतत संघर्ष, विफलता कोलाहल का, यहाँ राज है,  
अंधकार में दौड़ लग रही, मतवाला यह सब समाज है।*

(पृ. 275, रहस्य सर्ग)

नियति ने प्रत्येक प्राणी के पीछे कोई न कोई एषणा लगा रखी है। जिसकी पूर्ति में वह सभी को कर्म में नियोजित करती है। कविता अपना स्वयं भाष्य है। कामायनीकार के अनुसार किसी व्यक्ति का मानसिक परिवर्तन भी नियति के ही अनुशासन से होता है। मन में संकीर्णता अथवा व्यापकता नियति की ही प्रेरणा से ही उत्पन्न होती है-

*“व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बंद”*  
(इड़ा सर्ग)

प्राकृतिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षणिक- सभी प्रकार के परिवर्तन नियति की ही इच्छा से होते हैं-

*अब विकल प्रवर्तन हो ऐसा जो नियति चक्र का बने यंत्र।”*

कामायनी काव्य की नायिका श्रद्धा है। मनु के पश्चात कामायनी के पात्रों में महत्त्व की दृष्टि से श्रद्धा का ही स्थान है। काम की चेतना और रति का अनुपम सौन्दर्य दोनों ही श्रद्धा में समन्वित हुए हैं। नियतिवादी प्रसाद का विश्वास है

कि सब प्रकार की संपत्ति, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र, कलम आदि की प्राप्ति भी नियति की इच्छा पर निर्भर है। श्रद्धा, मनु परिचित होकर एक साथ रह रहे हैं। श्रद्धा ने सेवा, दया, माया, ममता आदि हृदय की निधियाँ मनु पर निछावर कर दी हैं, उस समय कवि स्वयं कहता है-

*चल रहा था विजन पथ पर मधुर जीवन खेल*

*दो अपरिचित में नियति अब चाहती थी मेल।*

नियति की शक्ति अनन्त है जिसने सकल मनुष्य के सभी प्रकार के प्रपंच साधन विफल हो जाते हैं उसकी दयनीय या आसुरी सभी शक्तियाँ पराजित हो जाती हैं। मानव ही नहीं देवता भी दास हैं, उसकी अंगुली निर्देश पर वे कठपुतली के समान नाचते हैं।

कला-मर्मज्ञ रायकृष्ण दास के द्वारा भारत-कला-भवन, बनारस दिनांक 08 जून 1951 को लिखे एक पत्र के अनुसार- प्रसाद जी का नियतिवाद न प्रारब्धवाद है और न शैवागमे का शास्त्रीयवाद विशेष। वह प्रसाद साहित्य की एक अनूठी देन है। अध्ययन की दृष्टि से प्रसाद जी का नियतिवाद आधुनिक युग की साहित्यिक आवश्यकता है, उस पर विश्व साहित्य और भारतीय परंपरा दोनों का प्रभाव है, उसमें अध्यात्म और इहलोकवाद दोनों का प्रभाव है। वह शास्त्र से ली हुई विचारधारा नहीं है, उसमें युद्ध कवि की युद्ध अनुभूति है। वह प्रसाद की अपनी विलक्षण अनुभूति है जिसमें आनंदवाद और कर्मयोग को पुष्ट किया है। प्रसाद के दो अमर वाक्य हैं- “मनुष्य नियति का दास है। मनुष्य प्रकृति का अनुचर है।” नियति के संबंध में स्वयं प्रसाद जी ने काव्य और कला तथा अन्य निबंध में जो विचार प्रकट किए हैं, उसमें उन्होंने पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों के नियतिवाद में क्या प्रभेद है, इस पर अच्छा प्रकाश डाला है। प्रसाद के नियति का सारांश है- वर्तमान युग बुद्धिवादी है अपाततः उसे (पश्चिम के लिए) दुःख को प्रत्यक्ष सत्य मान लेना पड़ा है, उसके लिए संघर्ष करना अनिवार्य सा है।... इसलिए उनका (पश्चिम का) बुद्धिवाद उनकी दुख भावना के द्वारा अनुप्राणित रहा। इसी को साहित्य में उन लोगों ने प्रधानता दी। यह भाग्य या नियति की विजय थी। परंतु अपने घर में सुव्यवस्थित रहने वाले आर्यों के लिए यह आवश्यक न था।... भारतीय

आर्यों को निराशा न थी। करुण रस या उसमें दया सहानुभूति की कल्पना से अधिक थी रसानुभूति। उन्होंने भावना में अभेद निर्विकार आनंद लेने में अधिक सुख माना।”<sup>5</sup>

प्रसाद जी के उक्त कथन से मुझे आशा है। हमारे पाठकों को प्रसाद जी के नियतिवाद को समझने में मदद मिलेगी। हमारी चर्चा कामायनी के नियतिवाद पर चल रही थी, वह अभी अधूरी रह गयी थी। यहाँ मेरा उद्देश्य केवल यह संकेत देना भर है कि कामायनी में कैसे बार-बार नियति शब्द का प्रयोग कवि करता रहा है, सबसे पहले ‘चिंता’ सर्ग में देखे- जिस समय प्रलय में देवजाति का विध्वंस हो जाता है उस समय मनु इस नियति रूपी शक्ति के सहारे ही सुरक्षित रहते हैं। सहसा नियति मनु की निराशा को देखकर उनका पथ प्रदर्शन करने के लिए उद्भूत हो जाती है।

एक नाव थी, और उसमें डांडे लगते, या पतवार।

तरल तरंगों में उठ गिरकर, बहती पगली बारंबार।

लगते प्रबल थपेड़े धुंधले, तट का था कुछ पता नहीं  
कातरता से भरी निराशा, देख नियति पथ बनी नहीं।

(कामायनी)

नियति की कृपा से मनु सुरक्षित बचकर हिमालय के उच्च शिखर पर चिंतित बैठे हैं-

उस एकांत नियति- शासन में चले विवश धीरे-धीरे  
एक शांत स्पंदन लहरों का, होता ज्यों सागर तीरे।

(कामायनी)

स्मरणीय है कि प्रसाद ने कामायनी में नियति को केवल ‘श्रममयी’ नहीं ‘वरदानमयी’ रूप भी माना है। इसका संकेत पूर्व में दिया जा चुका है। “दो अपरिचित में नियति अब चाहती थी मेल।”

कामायनी की नियति व्यक्तिक कर्म-फल से परे एक सर्वातिशायी एवं इंद्रियातीत सत्ता है। नियति पर श्रद्धा रखने से जीवन सरल हो जाता है, मानसिक संघर्ष एवं द्वंद्व मिट जाते हैं साथ ही जीवन में किसी प्रकार के असंतुलन अथवा उश्रंखलता का प्रभाव नहीं होता। कामायनी की नियति में व्यक्ति के कर्म स्वातंत्र्य को कोई स्थान नहीं। मनुष्य के प्रबल से प्रबल क्रियमाण कर्म भी उसे बदल नहीं सकते। अतएव प्रयत्न करने पर भी नियति जाल से कोई मुक्त नहीं

हो सकता। प्रसाद प्रज्ञा पुरुष थे। इतिहास, संस्कृति और राष्ट्रीयता की अनुपम त्रिवेणी का संगम प्रसाद का मानवतावाद है। उनका मानवतावाद, वस्तुतः आर्यों के आनंदवाद का ही प्रतिरूप है, वे बाहर भीतर सर्वत्र आनंदधन शिव को ही देखते थे। वे काव्य को ‘आत्मा की सांकल्पिक अनुभूति’ समझते थे। उनकी दृष्टि में साहित्य दुख दग्ध जगत् और आनंदपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण है प्रो. कल्याणमल लोढ़ा ने उसे उचित ही “कामायनी यदि छायावाद का उपनिषद है, तो आधुनिक युग की विसंगतियों का दर्शन भी” माना है। (देखें वाग्द्वार, पृ. सं. 125) ‘प्रसाद’ ने कामायनी में मानवता का जो स्वप्न देखा है- उसे कामायनी की नायिका श्रद्धा शब्दों में कहती है-

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त, विकल विखरे हैं, हो निरुपाय,  
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय!

निःसंदेह गर्हित स्वार्थ की प्रवृत्ति विनाश का कारण बनती है। प्रसाद की ये पंक्तियाँ साक्षी हैं-

अपने में सब कुछ भर कैसे, व्यक्ति विकास करेगा  
यह एकांत स्वार्थ भीषण है, अपना नाश करेगा।

(कामायनी)

आज के विश्व व्यापी आतंकवाद को देखते हुए, मानवता के हित को देखते हुए त्रिकालदर्शी कवि प्रसाद ने लोक संहार कर्ताओं को जो शाश्वत संदेश दिया है, उसे क्या हम भूल सकते हैं?

“क्यों इतना आतंक? ठहर जा वो। गर्विले।

जीने दे सबको फिर तू भी सुख जी ले।

अब, हम प्रसाद के नाटकों में नियतिवाद का दिग्दर्शन कराने जा रहे हैं। प्रसाद ने कुल चौदह नाटक लिखे हैं। प्रस्तुत आलेख में यह संभव नहीं है कि सबका उल्लेख किया जा सके। कुछ ही नाटकों में व्यक्त ‘नियति’ के स्वरूप का हम आकलन कर सकेंगे। ‘जनमेजय का नागयज्ञ’ में वेदव्यास के निम्न कथन से नियति की पुष्टि होती है-

“नियति कर्तव्य मद से मात्र मनुष्यों को कर्म शक्ति अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है... इसमें व्यक्तित्व की मर्यादा का ध्यान नहीं रहता। सर्वभूत हित की कामना पर ही लक्ष्य होता है। स्वयं प्रकृति की नियामिका शक्ति कृत्रिम स्वार्थ सिद्धि में रुकावट उत्पन्न करती है... उस



उलटफेर को शांत और विचारशील महापुरुष ही समझते हैं, पर उसे रोकना उनके वश की बात नहीं है, क्योंकि उसमें विश्व भर के हित का रहस्य है।”

जनमेजय का नागयज्ञ में परीक्षित का प्रतापी पुत्र जनमेजय पिता का बदला लेने के लिए नागों का विध्वंस करना चाहता। इस नाटक में उत्तंक कर्म स्वातंत्र्य का प्रतिपादन करता हुआ, नियति का विरोध करता है। उत्तंक कहता है—सम्राट! मनुष्य जब तक यह रहस्य (कर्म रहस्य) नहीं जानता तब तक वह नियति का दास बना रहता है। नियतिवाद और स्वतंत्र इच्छा शक्ति (फ्री विल) का विवाद चिरंतन काल से चल रहा है। प्रसाद का नियतिवाद कर्मयोग की ओर मनुष्य को प्रेरित करता है, वह व्यर्थ निष्क्रिय जड़ सिद्धांत नहीं है उसके पीछे गतिशीलता की प्रेरणा है। पर नाटक का कथानक शिथिल है। आयों और नागों का संघर्ष प्रधान हो गया है। नाटक में दार्शनिकता अधिक आ गयी है।

‘अजातशत्रु’ प्रसाद का वह नाटक है, जिसका रचनाकाल ई. सन् 1922 है। अजातशत्रु का जीवक कहता है—“अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियति की डोरी पकड़कर मैं निर्भय कर्मकूप में कूद सकता हूँ क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है, वह तो होगा, फिर मैं कायर क्यों बनूँ—कर्म से क्यों विरत रहूँ”। नाटक ऐतिहासिक है, संपूर्ण नाटक बाह्य परिस्थितियों के द्वंद्व पर आधारित है। नाटक का नायक अजातशत्रु, धिरोद्धत है। प्रसाद जी ने कुल 14 नाटक लिखे हैं, कुछ विद्वानों के दृष्टि में ‘चंद्रगुप्त’ में प्रसाद की नाट्यकला विकास की चरम स्थिति पर पहुँच गयी है। जिसमें वस्तु विन्यास एवं चरित्र-चित्रण दोनों में प्रसाद की कला प्रकटता चरम शिखर पर है। ‘चंद्रगुप्त’ में छः बार नियति शब्द का प्रयोग प्रसाद जी ने किया है और ‘स्कन्दगुप्त’ में तीन बार।

“आह! वेदना मिली विदाई/ मैंने भ्रमवश जीवन संचित/ मधुकरियों की भीख लुटाई।”... चढ़कर मेरे जीवन रथ पर/ प्रलय चल रहा अपने पथ पर/ मैंने निज दुर्बल पद बल पर/ उससे होड़ लगाई।” देवसेना का यह गीत पाठकों को इसमें अंतर्निहित नियति के स्वर को पहचानने में देर नहीं लगेगी। “भाव-विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई यह कुरंगी सी कुमारी... आह! कैसा भोला मुखग्र

है।” यह है प्रसाद की महान कल्पना, देवी देवसेना का व्यक्तित्व जो कि विश्व साहित्य में अद्वितीय स्थान रखता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस रचना को प्रसाद की सर्वोत्तम कृति माना है। देवसेना के चरित्र में प्रारंभ से अंत तक द्वंदात्मक स्थिति विद्यमान रही है और यह सर्वत्र उसके जीवन की सच्ची झाँकी प्रस्तुत करती है—“कूलों से उफनकर बहने वाली नदी, तुमुल तरंग, प्रचंड पवन और भयानक वर्षा, परंतु उसमें भी नाव चलाती ही होगी।”

उक्त कथन की पहचान और परख करते हुए मेरे अन्तः में जो सवाल उठता है वह यह है कि मनुष्य नियति के अधीन है अथवा कर्म करने में स्वतंत्र है। भारतीय कर्म सिद्धांत वस्तुतः वैज्ञानिक है, फिर भी यह एक बड़ी विडंबना है कि दार्शनिक दृष्टि से कर्मवादी होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से उदार देश भाग्यवादी बन गया है। इस संदर्भ में मुझे गोस्वामी तुलसीदास की पंक्तियाँ बरबस याद हो आ रही हैं—

सुभ अरु असुभ करम अनुसारी, ईसु देहु फल हृदय विचारी।  
कठिन करम गति जान विधाता, जो सुभ असुभ सकल फल दाता।।

‘स्कंदगुप्त’ नाटक में प्रसाद के व्यक्तित्व से अनुभूति का प्रबल आवेग अभिव्यक्ति के उचित माध्यम के सहारे बरबस जो फूट पड़ा है उसका साक्षी है उनका कथन—“परंतु संसार के ही नक्षत्र से उज्ज्वल किंतु कोमल स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्ति सौरभ वाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जाता है।” देवसेना प्रसाद की ऐसी ही अलौकिक सृष्टि है। डॉ. नगेन्द्र ने पते की बात कही है, उनके व्यक्तित्व की एक झाँकी देते हुए लिखा है कि—“शांत, गंभीर सागर, जो अपनी आकुल तरंगों को दबाकर धूप में मुस्कुरा उठा है या फिर गहन आकाश जो झंझा और विद्युत को हृदय में समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है। ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था।”<sup>6</sup>

‘ध्रुवस्वामिनी’ प्रसाद जी का अंतिम नाटक है, जिसका प्रथम प्रकाशन 1933 ई. है। इसके माध्यम से भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ तत्त्वों की अभिव्यक्ति हुई है। ध्रुवस्वामिनी में कुल दो बार नियति शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसे अविकल रूप में यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। “ध्रुवस्वामिनी

कहती है- (चन्द्रगुप्त से)- हाँ- हाँ, जीवन के लिए कृतज्ञ, उपकृत और आभारी होकर किसी के अभिमान पूर्ण आत्मविज्ञापन का भार ढोती हूँ- यही क्या विधाता का निष्ठुर विधान है? छुटकारा नहीं? जीवन के नियति के कठोर आदेश चलेगा ही- तो क्या यह मेरा जीवन भी अपना नहीं।” चन्द्रगुप्त- देवि, जीवन विश्व की संपत्ति है- प्रमाद से क्षणिक आवेश में या दुख की कठिन से उसे नष्ट करना तो ठीक नहीं।” अब आगे पाठक वृंद देखें दूसरी बार नियति का प्रयोग ध्रुवस्वामिनी के शब्दों में कितना अनुभूतिपूर्ण था वह एक क्षण का आलिंगन। कितने संतोष से भरा था। नियति में अज्ञात भाव से मानो लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन में सायंकालीन शीतल आकाश से मिला दिया है।<sup>7</sup>

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि- दार्शनिकता प्रसाद के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। प्रसाद के नाटकों में अद्वैतवाद, नियतिवाद, करुणामूलक, बौद्धदर्शन तथा शैवागमों का आनंदवाद आदि भारतीय दर्शन की प्रमुख मान्यताएँ अभिव्यक्ति हुई हैं।

उपन्यासकार प्रसाद ने कुल तीन उपन्यास लिखे हैं- जिनमें दो (कंकाल और तितली) संपूर्ण और एक (इरावती) अपूर्ण। पर हिंदी उपन्यास साहित्य में तीनों का अपना स्थान है। रचना की दृष्टि से कंकाल प्रसाद जी का प्रथम उपन्यास है, जिसमें समाज की रूढ़िग्रस्त धार्मिकता तथा थोथी नैतिकता पर गहरा व्यंग्य है। कंकाल में तारा (यमुना) का चरित्र तो नारी जीवन की विवशता और उज्ज्वलता दोनों का प्रतीक है, इसका प्रकाशन सन् 1929 ई. में हुआ, जिसमें सात बार नियति शब्द का प्रयोग हुआ है। कंकाल की शक्ति उसका समाज दर्शन है। समाज में स्त्रियों की दयनीय स्थिति, असुरक्षा देखकर घंटी कहती है- “हिंदू स्त्रियों का समाज ही कैसा है, इसमें उनके कोई अधिकार हो, तब तो सोचना विचारना चाहिए।” (कंकाल, पृ. सं. 73)। इसी प्रकार जमुना कहती है- “कोई समाज स्त्रियों का नहीं बहन। सब पुरुषों के हैं, स्त्रियों का एक दर्द है, आघात सहन करने की क्षमता।” (कंकाल, पृ. सं. 77)। जमुना का कोई व्यक्तित्व नहीं। वह कहती है- वह विधाता की एक झुंझुलाहट है। उसके भाग्य में लिखा है कि

उड़कर भागते हुए पक्षी के पीछे चारा और पानी से भरा हुआ पिंजरा लिए घूमती रहे। आज का पुरुष इतना अपवित्र, हीन और स्वार्थी हो गया कि वह नारी को बहन के रूप में देख ही नहीं सकता। तारा (यमुना) का यह प्रश्न आज भी एक चुनौती है, इस पर हम प्रबुद्ध और सहृदय पाठक को सोचना चाहिए।

‘तितली’ प्रसाद का दूसरा उपन्यास है, जिसका प्रकाशन 1934 ई. में हुआ। इसमें प्रसाद ने एक कलापूर्ण आदर्श प्रस्तुत किया है। तितली मनुष्य बनाम समाज के संघर्ष का ही उपन्यास न होकर मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा का भी उपन्यास है। इसमें चार बार नियति शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रसाद के शब्दों में- “नियति दुस्तर समुद्र को पार कराती है, चिरकाल के अतीत को वर्तमान से क्षण भर में जोड़ देती है और अपरिचित मानवता- सिंधु में से उसी एक का परिचय करा देती है जिससे जीवन अग्रगामिनी धारा अपना पथ निर्दिष्ट करती है। (तितली, पृष्ठ -71)। ‘तितली’ में जो चार बार नियति शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रेमचंद ने इसकी विस्तृत समीक्षा की थी।

‘इरावती’- ऐतिहासिक उपन्यास है जो उनकी मृत्यु के बाद 1940 ई. में प्रकाशित हुआ। यह एक अपूर्व कृति है। इसका कथानक शृंगवंश तथा खाखेल के इतिहास से संबद्ध है। इसमें दो बार नियति शब्द का प्रयोग हुआ है। इसमें प्रसाद ने अतीत की प्रत्यंचा चढ़ाकर भविष्य के लक्ष्य भेद का प्रयत्न किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद जी ने अपनी कारयित्रि प्रतिभा, रचना कौशल एवं नव-नवोन्मेषशालीनी प्रतिभा का उपयोग साहित्य के विधाओं- काव्य, नाटक, उपन्यास, निबंध, कहानी आदि में सर्वत्र किया है। प्रसाद जी सबसे पहले एक बहुत बड़े विचारक थे। उसके बाद कवि, नाटककार, उपन्यासकार। उनके नियतिवादी दर्शन में उनके विचारक रूप की झांकी हम पाते हैं। हम रायकृष्ण दास जी के अभिमत से पूरी तरह सहमत हैं, जिसे पूर्व में ही हमने उल्लेखित किया है। आचार्य शुक्ल जी का कथन है- “संसार सागर की रूप तरंगों से मानव-चेतना का निर्माण होता है।” प्रसाद जी भी कहते हैं- “सीधी बात तो यह है कि सौंदर्यबोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता।”

(काव्य और कला, पृ. 35) प्रसाद जी का 'आँसू' एक प्रबंध गीति जैसा है। 'आँसू' का प्रारंभ होता है संध्या के परिदृश्य से—

“इस करुणा कलित हृदय में/ अब विकल रागिनी बजती/  
क्यों हाहाकार स्वरो में/ वेदना असीम गरजती।” फिर रात  
आती है, फिर धीरे सघन तथा एकांत होती जाती है। इसी  
के समानांतर कवि की वेदना माया है। अंतिम अंश में प्रातः  
काल का संकेत देकर 'आँसू' रचना का समापन होता है—

सबका निचोड़ लेकर तुम

सुख से सूखे जीवन में।

बरसों प्रभात हिमकन-सा

आँसू इस विश्व-सदन में।

अतः स्पष्ट है कि कवि का संयोग और विरह दोनों  
वैयक्तिक नहीं, समूची सृष्टि-प्रकृति उसमें भागीदार है।  
पर कवि 'आँसू' में संकेत देता है कि समूची सृष्टि की  
पीड़ा स्वयं उसने झेली है और हर पीड़ा में उसकी अपनी  
व्यथा छिपी है। प्रसाद का कृतित्व, उनके व्यक्तित्व के ही  
समानांतर चलता रहा। नियतिवाद- दृष्टिकोण के हिमायती  
होने के बावजूद, वे सत्य और सौंदर्य के दर्शन इसी संसार  
में करते थे— अपने दुख-सुख से पुलकित/यह भूत विश्व  
सचराचर/ चिति का विराट वपु मंगल/ यह सत्य सतत  
चिर सुंदर।” प्रसाद जी का यह अटूट विश्वास रहा है कि  
मनुष्य का जन्म आनंद के लिए हुआ है पर ध्यान रहे  
उनका आनंदवाद पश्चिम से प्रेरित नहीं था। उनका आनंदवाद  
विश्व साहित्य की उपलब्धि है। उनकी रचनाओं में मिलता  
है चुनौतियों का समाधान। यांत्रिकता और भौतिकता—  
आधुनिकता से भरे इस युग में प्रसाद के साहित्य कर्म में  
आत्मिक और मानसिक सुख के सूत्र तलाशे जा सकते हैं।  
प्रसाद जी का कहना और मानना है कि मानव को दुख  
इसलिए नहीं मिलता कि यह विश्व मात्र दुख का कारण  
है। दुख का करण दूसरा है। मनुष्य समाज वर्गों में विभक्त  
है। अधिकारों के लिए परस्पर संघर्ष होता है। वर्ग युक्त  
समाज की विशेषता यह है कि लोग कहते कुछ हैं, करते  
कुछ हैं। आज मानव के आचरण और विवेक के बीच जो  
खाई बढ़ गई है, वही मानव संस्कृति का सबसे बड़ा संकट  
है, जिसकी चरम अनुभूति प्रसाद जी की कामायनी में

देखने को मिलती है—

‘ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, क्यों इच्छा पूरी हो मन की,  
एक दूसरे से न मिल सके, यह विडंबना है जीवन की।’

‘प्रसाद ने जिसे बीसवीं सदी के तीसरे चौथे दशक में  
भांप लिया था उसे कालांतर में दो दशक बाद ही आंग्ल  
महाकवि टी. एस. इलियट पहचान सका। —(टिप्पणी)

‘कामायनी’ मनुष्य के पुरुषार्थ का काव्य है। इसमें  
प्रसाद जी के दर्शन का आधार, ज्ञान और क्रिया की एकता  
है। उनका ज्ञान निष्क्रिय नहीं, वह मनुष्य को उचित कर्म  
मार्ग की ओर अभिप्रेरित करता है। तुलसी के समान प्रसाद  
जी ने भी गिरा और अर्थ को परस्पर अभिन्न माना है। वे  
भाषा और विचारों का अन्नयोनाश्रय संबंध स्वीकार करते  
हैं, उनका कहना है— “जो कुछ जाना जा सका, वही वाणी  
है। जो कुछ हम अनुभव करते हैं, वाणी उसका रूप है।”  
तभी तो वे शक्ति और सौंदर्य का दर्शन इसी संसार में कर  
सके हैं। “अपने दुख सुख से पुलकित/ यह भूत विश्व  
सचराचर/ चिति का विराट वपु मंगल/ यह सत्य सतत  
चिर सुंदर।” इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद ने भारतीय  
सांस्कृतिक परंपरा को आगे बढ़ाया है। नवीन और प्राचीन  
दोनों को लेकर जीना भारत की प्राण चेतना है। इसके वे  
प्रतीक थे। यहाँ हमें अल्बर्ट आइंस्टाइन (1879-1955),  
जो आखिरी दिनों में विश्व शांति के प्रबल समर्थक थे,  
जिनकी वैज्ञानिक प्रतिभा से सारा विश्व आलोकित है।  
उनके शब्द याद आते हैं— “भविष्य का धर्म वैश्विक धर्म  
होगा। इसे वैयक्तिक ईश्वर से परे जाना चाहिए और  
हठधर्मिता और धर्म शास्त्र से परहेज करना चाहिए, प्राकृतिक  
और आत्मिक को समेटते हुए, इसे उसी धार्मिक भावना  
पर आधारित होना चाहिए जो एक अर्थपूर्ण एकता के रूप  
में सभी प्राकृतिक और आत्मिक चीजों के अनुभव से  
व्युत्पन्न हो। ध्यान रहे ईश्वर दुनिया के साथ जुड़ा नहीं  
खेलता।”

‘कामायनी’ में प्रसाद ने विधाता की जिस कल्याणी  
सृष्टि के मंगलमय विधान का स्वप्न सिरजा है और मानवीय  
चैतन्य की गत्यात्मक संकल्प शक्ति में अडिग विश्वास का  
व्रत लिया है। वह तो मेरी दृष्टि में वही है जिसे महानतम  
वैज्ञानिक आइंस्टाइन ने वैश्विक धर्म कहा है। यह प्रसाद

का वह महान अंतर्दर्शन है, वह महान भाव है, जिसे प्रसाद ने देखा था- कामायनीकार के शब्दों में -

चेतना का सुंदर इतिहास, अखिल मानव भावों का सत्य।  
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य, अक्षरों से अंकित हो नित्य॥

नव का चरम प्रयोजन है आत्म विस्तार, अपने को विश्व के कण-कण में पाना। तभी तो 'कामायनी' का समापन होता है-

“समरस थे जड़ या चेतन

सुन्दर साकार बना था,

चेतना एक विलसती

आनंद अखंड घना था।

औरों को हँसते देखो मनु,

हँसो और सुख पाओ।

अपने सुख को विस्तृत कर लो,

सबको सुखी बनाओ।”

अंत में, आलेख का समापन करते हुए, हम अपनी विवशता का खेद प्रकट करते हैं। वास्तव में 'प्रसाद' के नियतिवादी विचारधारा का सम्यक् दर्शन हम अपने पाठकों को नहीं करा सके हैं। पूर्ण परिचय इस आलेख में देना भी असंभव है। क्षमापूर्वक....पाठक इसे स्वीकार करेंगे।

संदर्भ:

1. शोभनाथ सिंह, “प्रसाद शब्द सूची”, प्रकर्ष प्रकाशन खालिसपुर (मिर्जामुराद), वाराणसी 22130, प्र. सन् 2015 ई.
2. माखनलाल चतुर्वेदी “एक भारतीय आत्मा”, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली-6 सं. 1987 पृ. 98
3. अभिनव गुप्त ले. गणेशत्रयंबक देशपांडे अनु. मिथिलेश चतुर्वेदी, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, प्र. सं. 1995, पृ. 35
4. राजबलि पांडेय, हिंदू धर्म कोश, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, प्र. सं. 2003, पृ. 368
5. राष्ट्र भारती, वर्ष 92, अंक 3, मार्च 1962 सं. मोहनलाल भट्ट, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हिंदी नगर, वर्धा पृ. 138
6. नगेन्द्र- “विचार और अनुभूति” (प्रसाद के नाटक-लेख से)
7. ध्रुवस्वामिनी- प्रसाद मंदिर गोवर्द्धन सराय: वाराणसी, आवृत्ति, मार्च 1985, पृ. 28, व पृ. 32

टिप्पणी :

Between the idea & the reality  
Between the motion  
And the act  
Fall the Shadow.

(टी.एस.इलियट “दहालो मैन”)

संपर्क :

उदयाचल निलयम खालिसपुर  
मिर्जामुराद, वाराणसी- 221307  
मो. 09452075517

शिवमंगल सिद्धांतकर

भाड़े की भीड़

अखबार गाड़ी पर लाशें लदकर  
आती थीं हमारी ही पहले  
ज्यादा-ज्यादा  
अब उनकी भी आती हैं अक्सर  
जरखरीद अखबारनवीसों द्वारा  
शहीद करार दी जाती हुई  
राजकीय सम्मान और सलामी  
पाती होती हैं  
किंतु भाड़े की भीड़ होती है  
शव यात्रा में  
छाती-पीट-पीट कर आँसू बहाती हुई  
रुदाली की याद दिलाती होती है  
नये साल की पूर्व संध्या पर  
लाल गाड़ी पर एक लाश  
छलनी हुई  
दसियों हजार की तनी हुई  
मुट्ठियों की लाल सलामी  
पाती हुई  
बढ़ती जाती है जो रानीगंज  
की सड़कों पर

एक मौत कई मौतें

कोई मौत अकेली  
कहां होती है  
एक मौत कई मौतें कर जाती है  
कई लाशें छोड़ जाती है  
कुछ को ही बहा ले जाती है  
कोई मौत अकेली कहाँ होती है  
कोई-कोई मौत जिंदगी से भी ज्यादा जिंदा हो जाती है  
देख-देख कर आसमान टूटता होता है  
नदी पछाड़ खा जाती है  
पहाड़ टूट पड़ता है  
आस-पास मौत से भी ज्यादा  
त्रासद हो जाता है  
दूर-दूर तक जिसकी चीख पुकार जाती है  
जब-जब कोई रुदाली गार्ज जाती है  
चाहे क्यों न रोक जाती है  
फिर भी दूर-दूर तक जाती है  
चीख-पुकार  
दूर-दूर तक जाती है

### दर्द के दांत

दर्द के दांत  
 सुबह-सुबह दतुअन की मांग करते हैं  
 नीम चबाना ज्यादा-ज्यादा  
 पसंद करते हैं  
 दर्द ही दर्द को जिंदा रखता है  
 बलदेव शर्मा की तरह  
 दर्द की बरसात में जो डूबते-उतराते  
 होते हैं  
 कविता यदि कविता को बनाती हो  
 मैं कोई कविता नहीं बनाता  
 कविता के बाहर ही मेरी कविता होती है  
 नदी की रेत पर पूँछ पटकती हुई

### खरा सोना

खरा सोना खोट से भी खराब  
 सिद्ध होता है  
 सिद्ध होने से इनकार जब कर जाता है  
 वफादार होने से इनकार जब कर जाता है  
 जो जितना पिछड़ा होता है  
 वफादार उतना ही ज्यादा होता है  
 जो जितना अगड़ा होता है  
 वफादार उतना-उतना ही ज्यादा होता है  
 दोनों सिरे जब मिल जाते हैं  
 कुछ न कुछ हो ही जाता है  
 चाहें तो  
 क्रांति कह सकते हैं  
 प्रतिक्रांति कह सकते हैं  
 जो कुछ चाहें कह सकते हैं।

### पगुराते पेड़

खिड़की से देखता होता हूँ  
 पगुराते पेड़ पौधों को  
 धूप और हवा के थपेड़ों से  
 फेनिल हुए  
 जहाज की तरह धंसते जाते हुए अपने  
 घर को बैठे-बैठे देखता रहता हूँ  
 लिखते-पढ़ते हुए  
 सरियाता होता हूँ अपने चाबुक और कोड़े  
 कामाख्या के अंदर आते-जाते हुए  
 गालियां खाता हूँ  
 राक्षस कहा जाता हूँ  
 कोड़े ताने हुए  
 लाज-शरम खोते हुए  
 गरम-गरम जलेबी उड़ाते हुए  
 मकई के दाने को  
 सरसों के साग में सानते हुए  
 तीसी नाच नाचते हुए  
 दाल से पिघलते जाते हैं  
 हम सब/बचपन की याद दुहराते हुए

### विचारों की जंग

विचारों की पोटली जो देनी थी  
 हथियारों के जंगल को  
 संपूर्ण क्रांति पर सवार हो  
 लौट चली  
 फिर-फिर आने की कसम लेकर  
 विचारों और हथियारों की जंग  
 लड़ने के लिए

### संपर्क :

1, साक्षरा अपार्टमेंट, ए-3, पश्चिम विहार,  
 नई दिल्ली-110063, मो. 9810400430



राजेंद्र कुमार

इतना भी कम नहीं

खुश होने के लिए  
 इंतज़ार नहीं कर सकता मैं उस दिन का  
 कोई बहुत बड़ी चीज़ हासिल हो जाएगी जब  
 मुझे एकाएक  
 सूर्य की नोक भर भी हो मेरा हासिल  
 तो भी  
 मेरे खुश होने के लिए काफ़ी है  
 मैं वह समुद्र हूँ ही नहीं  
 जो उमगने के लिए  
 इंतज़ार करता है पूरनमासी की रात का  
 आज का चाँद  
 कल से कुछ थोड़ा-सा ज़्यादा है  
 इतना भी कम नहीं है  
 मेरे मन के उमगने के लिए

भूख ज़ाँद और एक आतचीत

सूरज, तुमने मुझे आग दी  
 मैंने उसे अपने लहू में घुल जाने दिया  
 चाँद, तुमने मुझे शीतलता दी  
 मैंने उसे अपनी त्वचा पर लिप जाने दिया  
 सूरज तुम यह मत समझना  
 कि मैंने तुम्हारी आग का महत्व नहीं समझा  
 चाँद, तुम यह मत सोचना  
 कि मैंने तुम्हारी शीतलता का दुरुपयोग किया  
 सूरज, कल जब तुम उगोगे  
 कुछ और लाल होंगे  
 क्योंकि मेरा लहू तुम्हारी रगों में दौड़ रहा होगा  
 चाँद, कल जब तुम निकलोगे अपनी यात्रा पर  
 मेरी त्वचा का परस पाकर  
 कुछ और सुंदर दिखोगे  
 कुछ और पूरे

संपर्क: 12 बी/1, बंद रोड, एलनगंज, इलाहाबाद- 211002, मो. 09336493924

आत्मा, जो अथ तब आवाज़ थी

तह-दर-तह  
 पड़ा रहा बहुत कुछ संस्कारतः  
 मोह से उसके- मुमकिन न हुआ उबरना-  
 न हो सकी झाड़पोंछ ही  
 कोनों-अतरों में लगते रहे जाले  
 बाहर से भी  
 पाया जहाँ से जो कुछ,  
 लोभ रहा उसका भी  
 सब कुछ इतना ज़रूरी लगा कि छोड़ा  
 नहीं जा सका कुछ भी  
 आत्मा तो आवाज़ थी  
 पर अब वह इनकार रही है महज़  
 आवाज़ बने रहने से  
 वह अपना हक माँग रही है  
 इस देह में  
 कहाँ बनाऊँ तिल भर जगह ?  
 कौन-सी जगह दूँ- इस देह में-  
 अपनी आत्मा को!

अदेह

जितना कुछ बता सकता था जीव वैज्ञानिक  
 सब बता दिया उसने  
 देह के बारे में  
 अंग-प्रत्यंग की अपनी-अपनी ज़िम्मेदारियाँ हैं  
 जब तक दुरुस्त हैं, सब  
 अपनी-अपनी ज़िम्मेदारियों में लगे हैं  
 किसे फुरसत है ?  
 किसे कोई सौंपे अपनी  
 आत्मा की ज़िम्मेदारी ?  
 कहाँ सहेजे कोई अपनी देह में  
 अपनी आत्मा को ?

## काली प्रसाद जायसवाल

### ईश्वर

मेरे दोस्त चिंतित हैं मेरे लिए  
 मैं कविता लिखता हूँ, प्रार्थना लिखता नहीं  
 मैं पूजा-पाठ करता नहीं  
 ईश्वर के बारे में मेरा मानना है कि  
 वह हमारी तरह जीवित वस्तु नहीं है  
 वह पक्षी भी नहीं, न वह घास-फूस है  
 वह कुछ सोच नहीं सकता  
 उसे नहीं मालूम न्याय क्या है  
 और अन्याय से किसका वास्ता है  
 उसकी आँखें नहीं हैं  
 आतंकवादी और मासूम में वह  
 फर्क नहीं कर पाता  
 उसे महसूस नहीं होती  
 पसीने की गंध  
 न ही रोटी की खुशबू  
 उसने न बादलों के गीत सुने  
 न धरती का गुनगुनाना सुना  
 वह कैसे सुने-जाने

उसके कान भी नहीं हैं  
 वह एक जगह-से-दूसरी जगह  
 नहीं जा सकता  
 न बाजार-हाट कर पाता  
 न उसे बाजार का भाव पता है  
 न शेयर बाजार से उसका रिश्ता है  
 वह तो दरअसल,  
 हमारी ही कमजोरियों से बना है  
 हमारी अज्ञानताएँ  
 हमारे अंतहीन लालच  
 और बात-बात में हमारा डरना  
 इन्हीं ने बना डाला है उसको  
 पर मेरे दोस्त घुटने टेक कर  
 करते हैं प्रार्थना मेरे लिए  
 कि ईश्वर इसको क्षमा करना  
 यह नहीं जानता  
 यह क्या कर रहा है

## हंसी का गुम होना

यह गुम लोगों का शहर  
 इस शहर में  
 अपने कीमती पलों को ढूँढ़ता  
 हर शख्स नजर आता  
 हर शख्स का  
 कुछ न कुछ गुम हो चुका था  
 यह अजीब बात थी  
 किसी के पास धागा था  
 लेकिन सूई गुम हो चुकी थी  
 किसी के पास यात्रा थी  
 लेकिन पांव गुम हो चुके थे  
 किसी के पास पांव थे  
 लेकिन रास्ते गुम हो गये थे  
 कुछ ऐसे लोग भी थे  
 जो दुकानों के सामने  
 खड़े रहते  
 बहुत देर बाद  
 वे अपनी इच्छाओं की  
 उंगलियां पकड़ कर  
 लौट जाते  
 उनके पास जेबें थीं  
 लेकिन खाली  
 उनके सिक्के खो गये थे  
 जिनके पास जेबे और सिक्के  
 दोनों थे  
 उनकी खर्च करने की इच्छाएं  
 गुम हो चुकी थीं  
 शहर में ऐसे अनेक लोग थे  
 जो हमेशा उदास रहते थे  
 उनकी हंसी गुम हो गयी थी  
 वे अपनी हंसी को

ढूँढ़ते रहते  
 हंसी को ढूँढ़ना  
 इतना ज्यादा मुश्किल था  
 जैसे अपने गिरे हुए  
 आंसुओं को  
 वापस आंख में रखना  
 और  
 सबसे खतरनाक है  
 हंसी का गुम हो जाना

## तुम नहीं थे

दीप था बाती भी थी  
 सिर्फ तुम नहीं थे  
 रोशनी हो न सकी  
 वाणी थी शब्द भी थे  
 सिर्फ तुम नहीं थे  
 बात हो न सकी  
 बसंत था बहार भी थी  
 सिर्फ तुम नहीं थे  
 फूल खिल न सके  
 गीत था संगीत भी था  
 सिर्फ तुम नहीं थे  
 सुर सज न सके  
 नदी थी नाव भी थी  
 सिर्फ तुम नहीं थे  
 पार हो न सके  
 जिस्म था सांसें भी थी  
 सिर्फ तुम नहीं थे  
 जिन्दगी जी न सके

संपर्क : 22, सरकार लेन, कोलकाता-700007, मो. 9831321257

## ठाज़ल

## ज़हीर कुरेशी

(1)

ये हर 'चैनल' पे चर्चे हो रहे हैं,  
 वो जन-जन के चहेते हो रहे हैं।  
 जिन्हें इन्सान कहना भी कठिन था,  
 सियासत में फरिश्ते हो रहे हैं।  
 उठी है बात बँटवारे की जब से,  
 विवादित घर के नक्शे हो रहे हैं।  
 नज़र पौरुष से टकराते ही...छत पर,  
 बहुत चंचल दुपट्टे हो रहे हैं।  
 अधिक उपलब्धता की भी वजह से,  
 जो कल मँहगे थे, सस्ते हो रहे हैं।  
 रहस्यों से उठाते साथ परदा,  
 बहुत-से लोग नंगे हो रहे हैं।  
 पुजारी और प्रभु-मूरत के सम्मुख,  
 विजन में सात पेरे हो रहे हैं।

(2)

खिड़कियों से ही खुले अम्बर मिले,  
 रेल के डिब्बे सरीखे घर मिले।  
 चाह कर भी फूल उड़ पाए नहीं,  
 किन्तु, खुशबू को हवा के 'पर' मिले।  
 हम हमेशा ही मिले दिल खोल कर,  
 तुम कहाँ पूरी तरह खुल कर मिले?  
 मन में झाँका तो असुंदर थे वही,  
 लोग जो तन से बहुत सुंदर मिले।  
 दिन को दिन कहना था, कह पाए नहीं,  
 हम किसी पर इस कदर निर्भर मिले।  
 उनको झुकना भी सिखाया जाएगा,  
 वो जो 'आलीजाह' से तन कर मिले।  
 ढूँढ़ लेते हैं वो कानूनों की काट,  
 लोग जो कानून से ऊपर मिले।

(3)

बेर जैसे आम को फल की न संज्ञा दे सके,  
 बोनसाई, राहगीरों को न छाया दे सके।  
 एक औरत साथ रहकर दे गई संतान-सुख,  
 हम न उसकी कोख का समुचित किराया दे सके।  
 उनकी शैली नागरिक जैसी थी, सीधी और सपाट,  
 वे न नेताओं की शैली में भरोसा दे सके।  
 जो कमाने को गया 'यू के' तो फिर लौटा नहीं,  
 काश... वो बेटा मेरी अर्थी को कंधा दे सके।  
 ये तो सच है- हमने गहनों की न चोरी की, मगर,  
 हम न अंगारों का तन छू कर परीक्षा दे सके।  
 रोग को पहचान कर, करते रहे समुचित इलाज,  
 किन्तु रोगी को न जीने का इरादा दे सके।  
 हम उसे जनतंत्र की सरकार कैसे मान लें,  
 जो न अंतिम आदमी को भी सुरक्षा दे सके।

(4)

हमारे साथ कई लोग हैं सफर के लिए,  
 उन्हीं के बीच है वो एक, उम्र भर के लिए।  
 हमारे गाँव में रहती है रोज बिजली गुल,  
 तुम्हारे पास शहर है जगर- मगर के लिए।  
 खबर-नबीस, मुहल्ले की छोटी घटना को,  
 बना ही लेता है मुद्दा, बड़ी खबर के लिए।  
 करीब आने लगा है चुनाव का मौसम,  
 वो सोचता है नया हादसा, 'लहर' के लिए।  
 हम अपने बल पे तो नभ में न उड़ सके, लेकिन,  
 हमारे साथ हैं कुछ वायुवान, 'पर' के लिए।  
 वो एक फूल, जो सूरज के साथ-साथ खिला,  
 है एक ऐसा भी महका जो रात भर के लिए।  
 जो लोग जूझते हैं, वे रस्ते निकाल लेते हैं,  
 तमाम लोग हैं...वर्ना... 'अगर-मगर' के लिए।

विद्या रजक

शोध-छात्रा

कलकत्ता विश्वविद्यालय

सच्चा साथी

मैंने कविता में जिसे चुना  
वह दुःख है  
सागर-सा गहरा  
ताप से तपा जीवन  
पकता रहता है जिसमें  
वह दुःख है  
आँखों से धोता रहता है जो मैल  
वह दुःख है  
जिन्दगी को अर्थ देने वाला  
दुःख है—  
सच्चा साथी  
कविता का।

मेरे सपने

मुझे नींद तो आती है  
पर सपने के बगैर  
जमाने ने कब्जा कर रखा है  
मेरे सपनों पर भी  
ठीक वैसे ही जैसे  
मेरे सारे अधिकार छीन  
लिये गये हैं  
कल्पना की उड़ान तक भी।

कौन है तेरे साथ

चाहती हूँ लिखना  
एक ऐसी कविता  
जो छू जाये पाठकों के  
दिलों को  
जिसका रिश्ता हो हकीकत से  
जिसमें निहित हो उन लोगों की करुणा  
जिसे यह संसार,  
कहता है— मजदूर  
जिसने सींचा है अपने पसीने से,  
इस संसार को...  
क्या इसके बलिदान को  
भूल गया यह संसार!  
मेरी कविता है, आज उनके साथ  
जिसके बिना नहीं चल सकता  
यह संसार।

संपर्क :

तिनकारी बाई लेन, गोन्दल पाड़ा,  
चंदननगर, हुगली-712137 (प.बंगाल),  
मो. 8820911790

## क्या यह प्रेम कहानी है?

सुबोध कुमार श्रीवास्तव

ऐसा क्यों होता है उनके साथ ? वे यानी अशोक प्रधान उस बंगले के सामने कुछ क्षणों के लिए क्यों ठहर जाते हैं जबकि वहाँ मेनगेट पर एक बड़ा ताला लगा रहता है ? कोई नेमप्लेट नहीं। उसे वीरान भी नहीं कहा जा सकता। सप्ताह में दो-तीन दिन उन्हें वहाँ एक माली दिखलाई देता है जो पेड़-पौधों को पानी देता रहता है या कांट-छांट करता है। शायद बगीचे और बंगले की देखभाल करने का दायित्व उसी का है। तरह-तरह के फूल खिले रहते हैं, रातरानी महकती रहती है, क्यारियों में बेला बिखरे हुए से दिखलाई देते हैं। संभव है कि माली मकान-मालिक की रुचि से परिचित हो और इस आशंका से कि वे कभी भी वहाँ आ सकते हैं, सावधान रहता हो, और अपने काम के प्रति ईमानदार भी। वास्तव में बगीचा सुंदर है। बंगले के सामने अशोक प्रधान के ठहर जाने की एक वजह यह भी हो सकती है।

बाप रे बाप ! इतना बड़ा बंगला लेकिन रहने वाला कोई नहीं। माली तो शायद पीछे की ओर निर्मित डेढ़ कमरों के छोटे मकान में रहता होगा। इस बीमारू राज्य की हरी-भरी राजधानी में लाखों नहीं तो हजारों व्यक्ति घर की तलाश में मारे-मारे फिरते हैं, फुटपाथों पर, रेलवे प्लेटफॉर्म पर या नीले आकाश के नीचे खुले मैदानों में रात बिता देते हैं और यहाँ इतना बड़ा बंगला खाली पड़ा है। इस बंगले में, इसके अहाते में तो आठ-दस परिवार बसाये जा सकते हैं। अशोक प्रधान इसी तरह कुछ न कुछ सोचते रहते हैं, मन ही मन मुस्कराते हैं और अपने आप से कहते हैं, 'बेटा अशोक, नाम में कुछ नहीं धरा। अशोक नाम होने से कोई सम्राट नहीं हो जाता। तुम रिटायर्ड मास्टर हो और वह भी प्राइवेट कॉलेज के। तुम्हारी सोच भी मध्यवर्गीय है। ऊँचे और बड़े सपने तो तुम देख ही नहीं सकते। इस बंगले में आठ-दस परिवार, क्यों बसाए जाएं, हर परिवार का ऐसा ही अलग बंगला क्यों न हो !

परिस्थितियों ने कुछ ऐसा मोड़ लिया कि उन्हें अपना प्यारा शहर छोड़कर यहाँ राजधानी में बेटे-बहू के साथ रहना पड़ रहा है। वे तो अपने छोटे शहर में मस्त थे, जहाँ बेहतरीन उम्र के पैतालीस वर्ष बिताए थे, चालीस वर्ष नौकरी की थी और यही सोचते थे कि वे इस शहर के हैं और यह शहर उनका है। वे जानते थे कि उम्र बढ़ रही है और धरती तथा अनंत के बीच का फासला कम होता जा रहा है और एक दिन उनके प्राण बंदूक से निकली गोली की तरह दन्न से निकल जाएंगे पर वे अपना शहर छोड़ना नहीं चाहते थे जहाँ उनका चिड़िया के घोंसले सा सुंदर छोटा घर था, अपने लोग थे, सबकुछ अपना था। लेकिन बेटा-बहू भी अपनी जगह सही थे। उनके तर्क जबरदस्त थे। वे बुढ़ापे में माँ-बाप को अकेला कैसे छोड़ सकते थे ? लोक लाज के कारण नहीं, माँ-बाप के प्रति समर्पित भावना के कारण। जिस दिन वे रिटायर हुए थे, उसी दिन से पीछे पड़े हुए थे कि उनके साथ ही रहूँ। पाँच साल तक वे टाल-मटोल करते रहे पर अंततः बेटे-बहू के हठ नहीं स्नेह के कारण वे उनके साथ रहने राजधानी आ गए और पिछले एक साल से यहाँ हैं। पत्नी तो पहले से ही मन बना चुकी थी यहाँ आने का। भला बहू का सुख भोगना कौन महिला नहीं चाहेगी ! अशोक प्रधान यहाँ संतुष्ट तो हैं लेकिन अपने छोटे शहर की स्मृतियों की जुगाली करते हैं।

रोज सुबह छः बजे वे घर से निकलते हैं और कॉलोनी के तीन-चार चक्कर लगाते हैं। सत्तर के करीब पहुँच रहे हैं पर तन्दरुस्ती ठीक-ठाक है। इस उम्र में हो जाने वाली आम बीमारियों मसलन ब्लडप्रेसर, शुगर



आदि से बचे हुए हैं। दांत अभी भी मजबूत हैं और सिर के बाल भी पूरी तरह नहीं पके। लौटते समय सांची पार्लर से दूध के पैकेट खरीदते हैं। हजार-बारह सौ क्वार्टर की शासकीय कॉलोनी है- सरकारी क्वार्टर बाबुओं से लेकर द्वितीय श्रेणी के अधिकारियों के लिए जिन्हें प्राप्त करने के लिए कर्मचारियों-अधिकारियों में होड़ मची रहती है। एक एफ टाईप क्वार्टर का जुगाड़ उनके बेटे ने कर लिया है जिसमें वे रह रहे हैं। इस कॉलोनी के एक छोर पर सड़क किनारे निजी बंगलों की कतार है- कुल बारह बंगले। एक ओर से बंगला नम्बर आठ और दूसरी ओर से नम्बर पांच बंगला खाली है जो फूलों की सुगंध बिखेरता रहता है और जिसके सामने अशोक प्रधान कुछ क्षणों के लिए ठहरते हैं। शायद फूलों की खुशबू अपनी सांसों में भर लेने के लिए। वे सोचते हैं कि यह बंगला भी किसी आई.ए.एस. अधिकारी का होना चाहिए। शेष ग्यारह बंगलों में चार आई.ए.एस., तीन आई.पी.एस., तीन आई.आर.एस. और एक आई.एफ.एस. अधिकारी का बंगला है जो सभी अब सेवानिवृत्त हो चुके हैं। तय है कि जब वे शासकीय सेवा में रहे होंगे, बड़े-बड़े आलीशान बंगलों का आनंद उठाते रहे होंगे। बुढ़ापे में शेर घास तो खाता नहीं। इन बंगलों के सामने से गुजरते हुए अशोक प्रधान गेट पर चमकती नाम पट्टिका पर नज़र जरूर फेकते हैं। अब तो उन्हें यह भी याद हो गया है कि कौन बंगला जोशी जी का है, कौन चौहान साहब का है, कौन यादव जी का है और कौन बाघमारे का.... इतने भव्य बंगले कोई लल्लू-जगधर तो बनवा नहीं सकता। चार दशक की नौकरी करने के बाद वे अपने छोटे शहर में अपना दो कमरे का मकान ही बनवा सके थे जो अब बेच चुके हैं और प्राप्त राशि से राजधानी में एक कामचलाऊ भूमि का टुकड़ा भी नहीं खरीद सकते, मकान खरीदना तो दूर की कौड़ी है। बेटा है तो द्वितीय श्रेणी राजपत्रित अधिकारी लेकिन उन्होंने उसे इतने बुरे संस्कार दिए हैं कि वह अपने वेतन से ही संतुष्ट रहा आता है और सात प्रतिशत महंगाई भत्ता बढ़ने पर उछल पड़ता है। वे तो यह सोच भी नहीं सकते कि उनका बेटा भी कभी इस तरह के बंगले का मालिक होगा।

रोज की तरह वे कॉलोनी का चक्कर लगा रहे हैं, बंगले और क्वार्टर के सामने लगी नाम पट्टिकाओं को पढ़

रहे हैं जिन्हें वे पहले भी कई बार पढ़ चुके हैं लेकिन आदत से मजबूर हैं। शाम का पांच बज चुका है और....कुछ और... लोग भी इसी तरह चहलकदमी कर रहे हैं जिनसे उनका परिचय तो नहीं है पर चेहरे परिचित हो चुके हैं और ये बुर्जुग एक-दूसरे को देखकर सिर्फ मुस्कराते हैं। इस मुस्कराने में यह टीस भी रहती है कि बन्धु, तुम पहल करो तो बातचीत का, परिचय प्रगाढ़ होने का सिलसिला आगे बढ़ सकता है पर पहल कौन करे, यह दंभ आड़े आ जाता है। कभी-कभी इस तरह की पहल भी नाकाम हो जाती है। अशोक प्रधान ने बारह बंगलों के सामने से गुजरते हुए इस तरह की पहल दो-एक बार की थी पर दूसरा व्यक्ति उन्हें उपेक्षित करता हुआ, अपने कुत्ते के गले में बंधी चेन को पकड़े हुए आगे बढ़ गया। अशोक प्रधान सोचने लगे कि इस दुनिया में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो आदमी से ज्यादा कुत्तों को प्यार करते हैं और जिन्हें कुत्तों का साथ सुहाता है। यदि वे अपने छोटे कस्बाई शहर में होते और इस तरह टहलने निकलते तो गुरुजी प्रणाम, नमस्ते सर, पांव लागी मास्साब, जय श्रीराम, जय भोले, सलाम गुरु मियां, कामरेड लाल सलाम.... और न जाने कितने अभिवादनो से घिरे हुए होते।

चहल-कदमी करते हुए वे एक सिरे से आठवें और दूसरे सिरे से पांचवे नम्बर के बंगले के सामने पहुंच जाते हैं और ठहर कर उस ओर देखते हैं। उन्हें आश्चर्य होता है। गेट पर ताला नहीं है। माली पौधों को पानी दे रहा है। लॉन में आराम कुर्सी पर एक महिला बैठी हुई है जो वृद्ध ही होगी क्योंकि कुर्सी से टिकाकर रखी एक छड़ी भी उन्हें दिखलाई देती है। इससे अधिक अशोक प्रधान कुछ देख भी नहीं सकते। चश्मा तो वे बचपन से ही लगाते हैं, दूर की दृष्टि कमजोर है। महिला के हाथ में कप है यानी कि वह चाय पी रही है। तो इस बंगले में भी रहने कोई आ गया, सोचकर ही उन्हें तसल्ली सी होती है। खाली बंगले, खाली मकान या खाली झोपड़ी को देखकर वे खुद में एक खालीपन सा महसूस करने लगते हैं। माली और उस महिला को छोड़कर कोई और उन्हें दिखलाई नहीं देता। संभव है, अंदर के कमरों में कुछ लोग हों। वे घूमते-घामते अपने घर आ जाते हैं।

दूसरे दिन सुबह भी वह महिला उन्हें बरामदे में बैठी

हुई दिखलाई देती है, शॉल ओढ़े हुए, अपनी सखी छड़ी के साथ। अकेली। हाथ में अखबार। सुबह के सात बजने को हैं। वे अनुमान लगाते हैं कि परिवार के अन्य सदस्य अभी सोकर नहीं उठे होंगे। कुछ लोग देर से जागते हैं। दूध लेकर वे वापस घर आ जाते हैं और दिन भर इसी उधेड़बुन में लगे रहते हैं कि उस महिला ने अपने बंगले के सामने नेमप्लेट क्यों नहीं ठुकरवाई जबकि उन लोगों से अशोक प्रधान का कोई लेना-देना नहीं है जिनके बंगलों के सामने उनका नाम चमकता रहता है।

शाम को वे घर से निकलते हैं और उन बारह बंगलों तक पहुँच जाते हैं। सब कुछ यथावत है- कुत्तों के साथ खेलते साहेब, उनके नाती-पोते, कान से मोबाइल चिपकाये हुए युवक और युवतियाँ.... बेनाम या अब तक अनजानी महिला का बंगला अलबत्ता कुछ अधिक साफ-सुथरा, व्यवस्थित दिखलाई दे रहा है। बरामदे में चार कुर्सियाँ रख दी गई हैं। लॉन में भी खूबसूरत गार्डन चेयर तरीके से जमा दी गई हैं लेकिन अशोक प्रधान को वह महिला दिखलाई नहीं देती। अंदर होगी, काम-धाम में लगी होगी, वे सोचते हैं। तभी उन्हें एक हाथ में बाल्टी और दूसरे में झाड़ू लिए किशोर उम्र की एक लड़की दिखलाई देती है। यानी बंगले की मालकिन को घर में काम करने वाली बाई मिल गई, वे यही सोचते हैं। हो सकता है कि यह माली की बेटी हो।

चार-छः दिन यूँ ही निकल जाते हैं। सुबह-शाम वे घूमने निकलते हैं। बंगलों के सामने से गुजरते हैं। खाली बंगला अब भी लगभग खाली ही है। कभी-कभी वह महिला दिख जाती है, किसी दिन नहीं भी दिखती। जब दिखती है तो वे उस ओर से नज़र फेर लेते हैं और जब नहीं दिखती तो उसे देखना चाहते हैं। ऐसा क्यों होता है अशोक प्रधान के साथ, वे खुद नहीं जानते। वे इस महिला के संबंध में माली से पूछना चाहते हैं पर बीच में संकोच की दीवार खड़ी हो जाती है। क्या सोचेगा वह? उन्हें लुच्चा-लफंगा समझकर दुत्कार भी सकता है। एक अपरिचित औरत का नाम और इतिहास क्यों जानना चाहते हैं अशोक प्रधान? यूँ तो उन्हें इस झमेले में पड़ना ही नहीं चाहिए। वैसे भी इस तरह के बंगलों में रहने वाले मलाईदार लोगों के प्रति उन्हें जरा भी हमदर्दी नहीं है, किसी तरह की कोई

दिलचस्पी भी नहीं है पर अब तक खाली पड़े उस बंगले और अभी-अभी उसमें रहने आई महिला के प्रति एक नामालूम सा लगाव वे महसूस करने लगे हैं। क्यों? यह तो अशोक प्रधान भी नहीं जानते। बंगला इतना पुराना भी नहीं है कि इससे पिछले जन्म का नाता जोड़ा जा सके। एक जन्म, एक जीवन भी तो कई किस्मों को अपने आप में समेटे रहता है। ....वे अनमने से हो जाते हैं। पूरे एक सप्ताह तक घर में कैद रहते हैं।

पत्नी के टोकने पर कि घर में पड़े-पड़े बीमार पड़ जाओगे, वे अपनी पहले की दिनचर्या पर लौटते हैं। नवम्बर माह का दूसरा सप्ताह है। गुलाबी ठंड का मौसम। शाम पांच बजे वे घर से निकलते हैं। कॉलोनी के दो चक्कर लगाते हैं। बंगला नम्बर आठ या पांच के करीब पहुँचकर ठिठक से जाते हैं। गेट पूरा खुला है और छड़ी का सहारा लेकर वह महिला बीचो-बीच खड़ी है। अशोक प्रधान उस ओर नहीं देखते और नाक की सीध में आगे बढ़ जाते हैं। कुछ ही दूरी तक पहुँचते हैं कि एक नारी स्वर उनके कानों में दस्तक देता है, 'अशोक...'

वे पीछे मुड़कर नहीं देखते। इस शहर में कौन उन्हें पुकार सकता है और वह भी नाम लेकर। नाम लेकर पुकारने वाले अब बचे ही कितने हैं!.... नहीं .... नहीं यह भ्रम है। अशोक प्रधान कुछ कदम आगे बढ़ाते हैं कि फिर वही नारी स्वर उन्हें रुकने को विवश कर देता है, 'अशू....' अरे! यह तो उनका घर का पुकारने का नाम है जिसे परिवार के लोग ही लेते रहे हैं या बेहद करीबी लोग। वर्षों बाद यह 'अशू' नाम उनके कानों में गूँजा है।

अशोक प्रधान पीछे मुड़कर देखते हैं। वह महिला उन्हें ही आवाज दे रही है। सड़क पर कोई और है भी नहीं। भ्रम की कोई गुंजाइश ही नहीं। धीरे-धीरे वे उस महिला की ओर बढ़ते हैं। दूर से उसे नहीं पहचान पाते। करीब पहुँचने पर चौंकते हैं, 'अरे! तुम हो, विभा... एक युग बाद। यदि मेरी याददाश्त मेरा साथ दे रही है तो तुम्हें चवालीस वर्ष बाद देख रहा हूँ मैं। इन वर्षों में पाँच माह और भी जुड़ेंगे। दिन, घंटे और मिनिट का हिसाब लगाने में कुछ समय लगेगा। तुम यहाँ, इस बंगले में... शायद इसलिए यहाँ से गुजरते हुए मेरे कदम कुछ क्षणों के लिए ठहर जाते थे। कैसी हो? उन्हें ऐसा लग रहा है कि जो कुछ भी उनके

साथ घट रहा है, वह दिन के उजाले में देखा जा रहा कोई सपना है।

‘गनीमत है कि तुमने मुझे पहचान लिया। पूछ रहे हो कि मैं कैसी हूँ। देख नहीं रहे हो कि सहारे के नाम पर यह छड़ी है मेरे पास। मैंने तो तुम्हें देखते ही पहचान लिया था। और पहचानती कैसे नहीं! तुम्हारी कद-काठी और चाल तो पहले जैसी ही है। न तो मोटे हुए, न पतले। बाल भी अभी तक घने हैं। कुछ सफेदी तो उम्र की देन है। और तुम्हारा चश्मा तो हमेशा से ही तुम्हारी पहचान रहा है। पहले भी कुरता-पाजामा पहनते थे मोटी खादी के और आज भी तुम्हारे पहनावे में कोई अंतर नहीं। एक व्यक्ति को पहचानने के लिए इतना पर्याप्त है। लेकिन तुम तो मुझे अब पहचान पाए हो जबकि पिछले कई दिनों से यहाँ से गुजर रहे हो। कभी तो नज़र पड़ी होगी मुझ पर?’ विभा की आँखें भी प्रश्न कर रही हैं। वह महिला अब विभा हो चुकी है। वह गेट से कुछ हट कर खड़ी हो जाती है। यह अशोक प्रधान यानी अशू के लिए यह संकेत है कि दोनों अंदर चलकर इत्मीनान से बैठ कर अपनी-अपनी आप बीती का बखान करें। पीछे छूट चुके चवालीस वर्ष पांच माह और कुछ दिन दोनों के लिए अनजाना व्यक्तिगत इतिहास है जिसका जिक्र सिर्फ किस्से-कहानियों में होता है।

दोनों बरामदे में पड़ी कुर्सियों पर बैठ जाते हैं- आमने-सामने। कुछ देर के लिए वहाँ मौन पसर जाता है। अपने-अपने घोंसलों की ओर लौटते पक्षियों का कलरव उस शांत वातावरण में साफ सुनायी दे रहा है। इस सन्नाटे को अशोक प्रधान ही तोड़ते हैं, ‘यह बंगला पिछले एक साल से मुझे अपनी ओर खींचता रहा है। इसके सामने मेरे कदम, कुछ क्षणों के लिए ही सही, ठहर जाते थे। ताला देख यही सोचता था कि कौन होगा इस आलीशान बंगले का मालिक। अरसे बाद यहाँ एक महिला दिखलाई दी तो उसका नाम जान लेने की बेचैनी भी पैदा हुई। यह तो मेरी सोच से परे था कि वह महिला ‘तुम’ हो सकती हो। तुम्हें दूर से ही देख सका और मेरी आँखों ने, जिन्हें तुम चार आँखें कहा करती थी, मेरा साथ नहीं दिया। मैं तुम्हें नहीं पहचान सका। और यह अच्छा ही हुआ अन्यथा अभी मैं यहाँ तुम्हारे सामने न बैठा होता। इस तरफ आना बंद कर

देता। करीब से तुम्हें देखा तो मेरी आँखों में तुम्हारी चवालीस वर्ष पहले की छवि ही उभरी जो कभी ओझल ही नहीं हुई थी। समय ने भले ही तुम्हारे, चेहरे को प्रौढ़ कर दिया हो पर तुम मेरे लिए तो आज भी विभा हो।’

‘कितना विरोधाभास है तुम्हारी बातों में। यह भी कह रहे हो कि मेरी छवि तुम्हारी आँखों से कभी ओझल नहीं हुई और यह भी कह रहे हो कि यदि तुम मुझे पहले पहचान लेते तो इस ओर आते भी नहीं यानी मुझसे मिलते भी नहीं। तुम आखिर कहना क्या चाहते हो? पहेलियाँ मत बुझाओ। हम दोनों उम्र की उस ढलान पर हैं कि जीवन का सूर्य कभी भी अस्त हो सकता है। कुछ तो है हमारे बीच जो तुम जानते हो लेकिन मैं नहीं या मैं जानती हूँ पर तुम नहीं। क्यों न हम आज एक-दूसरे के सामने अपने पत्ते खोल दें। हमारा बोझ कुछ तो कम होगा।’ विभा ने एक गहरी सांस भरी।

अंधेरा धीरे-धीरे बढ़ने लगा। पक्षियों का कलरव भी नहीं रहा। आसमान शांत। तभी घर में काम करने वाली लड़की ने आकर बरामदे की लाइट जला दी। कृत्रिम प्रकाश फैला लेकिन अशोक प्रधान और विभा के चेहरे बुझे-बुझे ही रहे। लड़की एक बार फिर आई और तिपाई पर चाय के कप रख गई। चाय के दो-चार घूंट अंदर करने के बाद अशोक प्रधान ने विभा के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए खुद को तैयार किया, ‘तुम्हारे पिता जी से कहा था मैंने कि तुमसे अब कभी नहीं मिलूँगा, तुम्हारे सुनहरे भविष्य के मार्ग की बाधा कभी नहीं बनूँगा, तुम्हारी जिंदगी से दूर चला जाऊँगा और मैंने यही किया। अंकल ने यह जानकारी जरूर दी थी कि आगे की पढ़ाई के लिए वे तुम्हें दक्षिण भेज रहे हैं लेकिन किस प्रांत के किस शहर में, यह नहीं बतलाया। मैंने भी जानने की कोशिश नहीं की। यह उस दिन की बात है जिस दिन मुझे पड़ोसी तहसील के प्राइवेट कॉलेज में लेक्चरर के पद पर नियुक्ति का पत्र प्राप्त हुआ था और शायद तुमने भी उसी दिन कहीं बाहर जाकर पढ़ने से इंकार किया होगा।

विभा एक-एक शब्द ध्यान से सुनती रही। कुछ सोचने के बाद बोली, ‘और उसी दिन तुमने रानी के हाथ वह छोटा सा पत्र मुझे भेजा था। कुछ याद आ रहा है? पत्र में न मेरा नाम था, न कोई संबोधन और न ही तुमने अपना

नाम लिखा था।’

‘यदि तुम कह रही हो कि वह पत्र था तो मैं भी उसे पत्र मान लेता हूँ। यूँ भी हमें पत्र लिखने की जरूरत कभी पड़ी ही नहीं। आमने-सामने मकान थे हमारे। बीच में एक कम चौड़ी सड़क। यह अलग बात है कि तुम कोठीनुमा भव्य मकान में रहती थी और मैं अढ़ाई कमरे के छोटे से क्वार्टर में। और यह फासला आज भी है...’ अशोक प्रधान फीकी सी हँसी हँसते हैं, ‘तुम्हारे पिता शहर के ही नहीं प्रांत के नामी ठेकेदार थे और मेरे भाई एक स्कूल में बाबू...’

बीच में ही टोक दिया विभा ने उन्हें, ‘अशू, तुम पहले भी बहकते थे और आज भी बहक रहे हो। मैं उस पत्र के बारे में बात कर रही हूँ...’

‘तुम्हें अपने पिताजी की इच्छा का सम्मान करना चाहिए। वे तुम्हारे माँ-बाप दोनों हैं और माँ-बाप जो भी निर्णय लेते हैं, अपने बच्चों के भले के लिए ही लेते हैं। यदि वे तुम्हें आगे की पढ़ाई के लिए बाहर भेजना चाहते हैं तो तुम्हें सहर्ष तैयार हो जाना चाहिए। हम दोनों मित्र हैं और हमेशा रहेंगे।’ चवालीस वर्ष पहले लिखे शब्द आज भी याद हैं अशोक प्रधान को जो वे विभा को इस तरह सुना देते हैं जैसे कि पढ़ रहे हों फिर कहते हैं, ‘इतना ही तो लिखा था मैंने उस पुरजे में, कोई प्रेमपत्र तो लिखा नहीं था।’ अशोक प्रधान हँसते हैं।

‘प्रेमपत्र और किसे कहते हैं? तुम्हारे इस पत्र ने मेरे जीवन में भूचाल ला दिया। शादी के बीस वर्ष बाद यह मेरे पति के हाथ लग गया और वे इस बात को लेकर कुढ़ते रहे कि शादी के पहले उनकी पत्नी के किसी दूसरे आदमी से आत्मीय संबंध थे। मैंने उनसे कहा भी कि मेरे और अशोक के बीच आत्मीय संबंध थे लेकिन यह नाता वैसा नहीं था, जैसा कि तुम सोच रहे हो। लेकिन यदि पुरुष के दिमाग में शक का शैतान बैठ जाता है तो उसे भगवान भी नहीं हटा सकते। वे मुझसे एक ही सवाल करते कि मैं बी.एस.सी. के बाद आगे की पढ़ाई के लिए बाहर जाना क्यों नहीं चाहती थी और मैंने अपने पिता का कहा न मानकर अपने प्रेमी के पत्र को क्यों महत्व दिया? वे यह जानना भी चाहते कि मैंने तुम्हारा पत्र इतने लंबे अरसे तक सहेजकर क्यों रखा?...’ कुछ क्षणों के लिए विभा ने अपनी वाणी को विराम दिया, आंचल आँखों पर फेरा फिर बात को

आगे बढ़ाया, ‘मूर्ख तो मैं थी जो तुम्हारी लिखी चार पंक्तियों को अमानत की तरह सहेजी रही। करती भी क्या! तुम्हारा दिया कुछ भी तो नहीं था मेरे पास। निशानी के तौर पर तुम्हारी लिखावट रखी थी और उसी ने मेरे जीवन की दिशा बदल दी। इतनी छोटी सी बात तलाक का कारण बनी। पिछले बीस वर्षों से अकेली हूँ। एक बेटा है और वह भी आस्ट्रेलिया में बस गया। पति ने मुझे छोड़ा और बेटे ने देश ही छोड़ दिया...’ विभा का संयम का बांध टूट गया और वह सिसकने लगी।

अशोक प्रधान हतप्रभ। कुछ सूझा ही नहीं उन्हें कि इस अप्रत्याशित स्थिति का सामना कैसे किया जाए। वे विभा से यह भी नहीं पूछ सके कि तलाक के बाद वह अकेली कहाँ रह रही हैं। उन्हें तो यह भी नहीं मालूम कि पहले वह देश के किस प्रांत के किस शहर में रहती रही है कि उसके पति क्या करते हैं या खुद वह नौकरी करती रही है या गृहिणी रही है। यह सब जानने के लिए उन्होंने कभी कोई प्रयत्न ही नहीं किया। विभा के पिता से कहा था उन्होंने कि उनकी बेटी से कोई संबंध नहीं रखेंगे और अपनी बात पर वे अडिग रहे।

कुछ देर बाद विभा सामान्य हुई, ‘समझ नहीं आता कि पढ़े-लिखे लोग इतने संकीर्ण दिमाग के क्यों होते हैं! बेहद दकियानूसी। मेरे पति आई.ए.एस. अधिकारी थे। आज भी किसी बड़ी विदेशी कम्पनी से जुड़े हुए हैं। बेटी की उम्र की लड़की उनकी दूसरी पत्नी है। पिताजी ने मुझे बी.ई. करा दिया था, अच्छा ही किया। शादी के बाद मैंने एम.ई. कर लिया लेकिन जुड़ी अध्यापन के पेशे से। एक ही संस्थान में उम्र खपा दी। पति की पोस्टिंग देश के विभिन्न शहरों में होती रही। वे विदेश में भी रहे। लेकिन बीस वर्षों तक हमारा दामपत्य सुखद रहा। मुहावरे में कहूँ तो वे मेरे ऊपर जान न्यौछावर करते थे लेकिन एक पत्र ने सब कुछ तहस-नहस कर डाला। इस उम्र में अकेली हो गई। वे इस शहर में भी रहे। तभी यह बंगला बनवाया था। मेरे नाम है। साल में दो एक बार यहाँ आती हूँ। किसी बात की कोई कमी नहीं है पर अकेलेपन का अहसास चैन से नहीं रहने देता। यदि बाप ने ही अपने बेटे के मन में यह बात बैठा दी हो कि उसकी माँ शादी के पहले चरित्रहीन थी तो उस महिला की मनःस्थिति की तुम कल्पना तो कर ही

सकते हो। क्या तुम्हारे प्रति मेरा लगाव मेरी चरित्रहीनता था? तुमसे हर तरह का नाता तोड़ देना मेरी चरित्रहीनता था? क्या परिभाषा है चरित्र की? अंधेड़ उम्र में बेटी की उम्र की लड़की से शादी करना क्या अच्छे चरित्र का प्रमाणपत्र है? अशू, मुझे लगता है कि तुम्हारी लिखी कुछ पंक्तियाँ तो मात्र बहाना थीं। पिताजी जो पहले फूले न समाते थे कि उनकी बेटी आई.ए.एस अधिकारी को ब्याही है, यह सदमा बर्दाश्त नहीं कर सके और...' विभा के आंसू गालों पर लुढ़कने लगे। मोटे-मोटे आँसू।

अशोक प्रधान ने उसे रोने दिया। वे सोचने लगे कि विभा ने उसे अब तक यह बात नहीं बतलायी कि वह किस शहर में रह रही है और उसके पति का क्या नाम है। क्या वजह हो सकती है इसकी! वे तय कर लेते हैं कि उन्हें इस संबंध में कुछ पूछना भी नहीं है।

'अब मैं चलाँगा। बड़ी देर हो गई।' अशोक प्रधान उठ खड़े हुए तो विभा ने अपना सिर उनकी ओर घुमाया और कहा, 'मैंने तो अपना इतिहास तुम्हारे सामने रख दिया पर तुमने तो मुझे अपने बारे में कुछ भी नहीं बतलाया। इस शहर में कब से हो?

वे बैठ गए कुर्सी पर, 'मेरी जिंदगी की किताब में इस तरह का कोई पन्ना है ही नहीं जिसमें किसी की दिलचस्पी हो। एक छोटे शहर में उम्र की पैंतालीस वर्ष गुजार दिए। शायद तुम्हें उस शहर का नाम याद हो। पिछले एक वर्ष से यहाँ हूँ। बेटे-बहू और पत्नी के साथ एक सरकारी क्वार्टर में रह रहा हूँ। तुम्हारे बंगले से बहुत दूर नहीं है हमारा घर। प्रायः रोज ही इस तरफ घूमने आता हूँ।' वे फिर उठ कर खड़े हो जाते हैं।

'मैं तुम्हारी पत्नी से मिलना चाहती हूँ। तुमने उसे अपनी दोस्ती के बारे में तो बतलाया होगा!' विभा ने कहा।

'ठीक है। इतना तो मैं कर ही सकता हूँ। कल शाम को ही लेता आऊँगा। वह भी तुमसे मिलकर खुश होगी।' अशोक प्रधान मेनगेट की ओर बढ़ गए।

घर आकर वे अनमने से रहे। किसी काम में मन ही नहीं लगा। ऐसा क्यों होता है उनके साथ? जिस महिला से एक युग पहले ही संबंध तोड़ चुके हैं, वह उनके शांत जीवन में बेतरतीब लहरों को क्यों उत्पन्न कर देती है? अशोक प्रधान ने तो हमेशा विभा का भला ही चाहा। तभी

तो उन दूरियों को लांघने की कोई कोशिश नहीं की जो उन दोनों के बीच थी। रात को उन्हें नींद नहीं आई। बिस्तर पर करवटें बदलते रहे और पीछे छूट चुके समय में झाँकते रहे।

अंकल यानी विभा के पिता ने कहा था उनसे, 'अशोक, मैं तो तुम्हें घर का लड़का ही समझता रहा लेकिन तुम तो बड़े-बड़े सपने देखने लगे। एक बात हमेशा ध्यान में रखना कि यदि दीवार ऊँची है तो उसे लांघने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। और यदि कोई मूर्ख यह कोशिश करता है तो यह तय है कि वह औंधे मुँह गिरेगा। जानकर खुशी हुई कि तुम्हें किसी प्राइवेट कॉलेज में नौकरी मिल गई है और महिने में दो सौ रुपये मिलेंगे। गुजारा तो हो ही जायेगा। पर विभा जो चप्पलें पहनती हैं, उनकी कीमत दो सौ रुपये से अधिक ही होती है। तुम समझदार हो तो मैं इससे अधिक कुछ और नहीं कहूँगा। तुमसे उम्मीद तो यही है कि तुम विभा के उज्ज्वल भविष्य की राह में अड़ंगा नहीं बनोगे। मैं अपनी बेटी की शादी किसी आई.ए.एस. से ही करूँगा। फिलहाल तो उसे आगे की पढ़ाई के लिए दक्षिण भेज रहा हूँ।'

अशोक प्रधान को बड़े-बुजुर्गों की सीख याद थी कि अपनों से बड़ों को जवाब नहीं देना चाहिए तो उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा था, 'मैं कल ही शहर छोड़कर जा रहा हूँ। आपको आवस्त कर रहा हूँ कि अब कभी विभा से नहीं मिलूँगा। मैंने कभी उसे अपनी एक मित्र और शुभचिंतक से अधिक कुछ, और समझा ही नहीं। उसकी बात, उसका पक्ष मैं नहीं जानता।

'मुझे तुमसे यही उम्मीद थी।' अंकल ने कहा था।

अशोक प्रधान और विभा के पिता के बीच हुई इस बातचीत की गवाह थी रानी जो दरवाजे की आड़ में खड़ी होकर सारी बातें सुन रही थी। अंकल के चले जाने पर उन्होंने रानी से ही एक कोरा कागज लाने को कहा था और चार पंक्तियाँ लिखकर उसे थमा दिया था- 'अपनी विभा दीदी को दे देना।' किसी और पर न तो उन्हें भरोसा था और न ही वे इस बात को तूल देना चाहते थे।

एक-एक कर सारा घटनाक्रम याद आता रहा अशोक प्रधान को। अंकल के मुँह से निकले कुछ शब्द वे बुदबुदाने लगे-

घर का लड़का...

बड़े-बड़े सपनें...  
दीवार ऊँची है....  
दो सौ रुपये... गुजारा तो हो ही जाएगा...  
दो सौ रुपये की चप्पलें...  
विभा का उज्ज्वल भविष्य...  
अडंगा...

आई.ए.एस. अधिकारी से शादी...

वे औंधे मुँह लेट गए और सोचने लगे कि उनके साथ ही ऐसा क्यों होता है। जीवन के जिस अध्याय के पन्ने वे खोलना भी नहीं चाहते, वे क्यों जब-तब फड़फड़ाने लगते हैं! विभा को तो वे अपनी अच्छी और सच्ची दोस्त ही समझते थे फिर उनसे ऊँची दीवार लांघने की बात क्यों की गई? स्वयं से पूछे इस प्रश्न का कोई उत्तर उनके पास नहीं है। इस बात का जिक्र तो उन्होंने विभा से भी नहीं किया। करना भी नहीं चाहते।

दूसरे दिन सुबह अशोक प्रधान घूमने नहीं निकले। विभा से वह कहकर आये थे सो शाम को पत्नी को साथ लेकर निकले लेकिन उसे यह नहीं बतलाया कि कहाँ चल रहे हैं। वे उसे भी चौकाना चाहते थे जैसे कि खुद चौंके थे। कॉलोनी का एक चक्कर लगाने के बाद वे विभा के बंगले के सामने पहुँचकर ठहर गये। माली ने गेट खोला और काम करने वाली लड़की लपककर बाहर निकली। वह उन दोनों को अंदर की बैठक में ले गई। घर की मालकिन तो उनकी प्रतीक्षा ही कर रही थी शायद।

विभा कुर्सी पर बैठी हुई थी। अशोक प्रधान की पत्नी को देखकर वह चौंकी। लाठी का सहारा लिए बिना खड़े होने की कोशिश की और लड़खड़ा गई। लड़की ने उसे सहारा देकर संभाला और कुर्सी पर बैठा दिया।

‘रानी, तुम अशू की पत्नी हो!’

‘तुम मुझे पहचान रही हो या नहीं?’ विभा की विस्मयभरी आँखें अशोक प्रधान की पत्नी पर टिक गईं।

‘विभा दी, भला मैं आपको कैसे भूल सकती हूँ। आपके घर वर्षों खाना बनाया है। जरूरत पड़ने पर घर में झाड़ू-पोंछा भी किया है, आपके कपड़े भी धोए हैं। आपने तो मुझे कभी अपनी नौकरानी समझा ही नहीं। आपके प्रयासों से ही मैं अपनी हायर सेकेंडरी तक की पढ़ाई पूरी कर सकी। आज मैं जो कुछ भी हूँ, आपके कारण ही हूँ।’

रानी अपनी विभा दी के पैरों के पास नीचे फर्श पर ही बैठ गई और उनके घुटने पर सिर रखकर सिसकने लगी। अशू की पत्नी अब विभा की रानी हो चुकी थी।

रानी के सिर पर हाथ फेरते हुए विभा ने अशोक प्रधान से पूछा, ‘तुमने कल मुझे यह क्यों नहीं बतलाया कि रानी तुम्हारी पत्नी है?’

‘मैंने तो रानी को भी यह नहीं बतलाया था कि कल मैं तुमसे मिला था और आज उसे तुम्हारे पास तुमसे मिलाने ले जा रहा हूँ। इस तरह के अनजाने संयोग ही तो जीवन में रस भरते हैं।’ अशोक प्रधान मुस्कराए।

लड़की चाय के लिए पूछने आई तो रानी उठ खड़ी हुई, ‘विभादी, चाय मैं बनाऊँगी। सालों से आपने मेरे हाथ की बनी चाय नहीं पी।’ वह लड़की के पीछे-पीछे रसोईघर की ओर बढ़ गई। दरअसल वह अशोक प्रधान और विभा को एकांत देना चाहती थी।

कुछ देर तक दोनों मौन ही रहे फिर विभा ने बड़ी गंभीरता से पूछा, ‘रानी से शादी करने के पीछे कोई वजह तो रही होगी? यदि वह इतनी खूबसूरत नहीं होती तो भी क्या तुम उससे शादी करते? तुम मुझसे कहते थे कि रानी मुझसे उन्नीस नहीं है।’ उसने अपनी निगाह अशू पर स्थिर कर दी।

‘मैं नहीं जानता था कि खूबसूरती की परिभाषा तुम्हारी सोच में क्या-कैसी है लेकिन रानी से शादी करने के पीछे वजह नहीं वजहें हैं- एक नहीं दो। जिस दिन मैंने चार पंक्तियाँ लिखकर रानी के हाथ तुम्हें भिजवायी थीं, उस दिन मैंने उसकी आँखों में आँसू देखे थे। मेरी आँखों के सूख चुके आँसू उसके गालों पर बह रहे थे। यदि इस तरह की कुछ पंक्तियाँ तुमने मुझे लिख कर उसके हाथ से मेरे पास भेजी होती तो भी उसके आँसू बहते। रानी मेरी और तुम्हारी मित्रता की गवाह रही है। चूँकि वह तुम्हारी चहेती थी सो मुझे भी भा गई।’ अशोक प्रधान हँसने लगे।

विभा गंभीर ही रही, ‘और दूसरी वजह...’

वे उलझन में पड़ गए। सोच रखा था कि इस संबंध में विभा से कोई चर्चा नहीं करेंगे लेकिन अब तो सच सामने लाना ही पड़ेगा। कुछ सोचते हुए उन्होंने कहा, ‘अप्रिय प्रसंग है। तुम्हारे पिताजी ने मुझसे कहा था कि मेरे और तुम्हारे बीच ऊँची दीवार है कि मैं बड़े-बड़े सपनें देखने



लगा हूँ और यह भी कि मैं दीवार लांघने की कोशिश न करूँ। विभा, मैं नहीं जानता कि मेरे किस आचरण की वजह उन्होंने मेरे प्रति यह धारणा बनाई। क्या किसी लड़की से दोस्ती हो जाना गुनाह है?’

‘दोष न तो तुम्हारा है और न ही पिताजी का। सारा दोष तो मेरा है। तुम जिसे दोस्ती कह रहे हो, वे उसे प्रेम समझ बैठे। वह समय भी तो लड़के और लड़की की मित्रता का बैरी था। मैं ही पिताजी को ठीक से नहीं समझा सकी और न ही अपने पति को। खैर...पर इसका रानी से तुम्हारी शादी का क्या संबंध है? विभा ने फिर पूछा।

‘दीवार... दीवार तो मेरे और रानी के बीच भी थी लेकिन कोई इतनी ऊँची नहीं कि उसे लांघा न जा सके। मैंने रानी के सामने विवाह का प्रस्ताव रखा और....’

‘अभी तो चाय पियो। थोड़ी देर में विभादी की पसंद के भजिये भी ला रही हूँ।’ रानी ने हँसते हुए दो कप तिपाई पर रख दिए और वापस रसोई में घुस गई।

‘एक प्रश्न मुझे हमेशा परेशान करता रहा है। उसका कोई उत्तर मुझे सूझता ही नहीं है। अपने सवाल को तुमसे साझा करना चाहती हूँ।’ विभा अशोक प्रधान की ओर देखने लगी।

‘पहले अपनी समस्या बतलाओ लेकिन मैं इतना जानता हूँ कि जिस सवाल का उत्तर तुम्हारे पास नहीं है, भला, मैं उसे कैसे हल कर सकता हूँ। फिर भी तुम्हारी उलझन क्या है?’

कुछ क्षणों तक विभा सोचती रही कि अशू के सामने अपनी पहेली किस तरह रखे फिर उसने हिम्मत बटोर ली, ‘सच-सच बतलाना अशू कि क्या हम दोनों के बीच सिर्फ दोस्ती ही थी या प्रेम भी था?’

अशोक प्रधान हतप्रभ। क्या कहें! वे कुछ देर तक विभा का प्रौढ़ चेहरा देखते रहे। फिर कहा, ‘जो समस्या तुम्हारी रही है, उससे मैं भी जूझता रहा हूँ। लेकिन हमारी नियति तो समझौता करने की ही रही है।’

‘यानी हम दोनों ने ही अपनी जिंदगी के समझौते किए।’ गहरी सांस भरी विभा ने।

‘गरमा-गरम भजिये...विभादी के पसंद के।’ रानी ने

प्लेटें तिपाई पर रख दी।

घंटे भर तक तीनों के बीच औपचारिक बातें होती रही, बीते दिनों के किस्से दोहराए गए लेकिन वातावरण में ठंडापन ही पसरा रहा। कम से कम रानी ने तो यही महसूस किया।

घर आने पर अशोक प्रधान को एक ही वाक्य परेशान करता रहा जो बातचीत के दौरान विभा ने कहा था— ‘तुम्हारे पास तो रानी है लेकिन मेरे पास तो वह छोटा सा पत्र भी नहीं रहा जो तुमने मुझे लिखा था। पति द्वारा जला दिए गये उस पत्र की राख भी सहेजकर नहीं रख सकी।’

दूसरे दिन मौसम ने करवट बदल ली। चार-छः दिन तक रुक-रुक कर पानी गिरता रहा। ठंड बढ़ गई। अशोक प्रधान घर से बाहर निकल ही न सके। एक सप्ताह बाद मौसम साफ हुआ। वे टहलते हुए बारह बंगलों तक पहुँचे। विभा के बंगले के मुख्य गेट पर बड़ा सा ताला लटका हुआ था। उन्हें माली या घर का काम करने वाली लड़की भी दिखलाई न दी। कुछ देर तक वे वहाँ खड़े रहे फिर वापस घर आ गये। यह क्रम, जब तक वे जीवित रहे चलता रहा।

प्रिय पाठकों, अशोक प्रधान को अपने छोटे शहर से बेहद लगाव था। वहाँ आते-जाते रहते थे। मेरे मित्र थे। वे एक प्रेम कहानी लिखना चाहते थे। टुकड़ों-टुकड़ों में उन्होंने मुझे अपनी कहानी के कुछ किस्से सुनाये थे। वे तो अब इस दुनिया में हैं नहीं। मैं उनके सुनाये किस्सों के आधार पर यह कहानी लिखने की कोशिश की है। न तो अशोक प्रधान कथाकार थे और न ही मैं लेखक हूँ। अपनी ओर से मैं इस कहानी में सिर्फ दो बातें जोड़ रहा हूँ—

अब तक एक लाठी का सहारा लेकर रोज शाम को रानी उस बंगले तक जाती है, इस आशा में कि कभी तो उसकी विभादी उसे दिखलाई देंगी। बंगला उजाड़ होता जा रहा है।

और

रानी की यह इच्छा कि उसे विभादी दिखलाई देंगी, शायद ही कभी पूरी हो। विभा भी अब दुनिया में नहीं होगी। मेरी सोच तो यही है।

संपर्क : जी-1/102, प्रथम तल्ला, गुलमोहर कॉलोनी, ई-8, (पंजाब नेशनल बैंक के नजदीक),  
भोपाल- 462039, मो. 09907564010

## उपाय

## सुधीर निगम

बी.ए. करने के बाद मैं आवारागर्दी करने लगा। क्या करता, नौकरी कहीं थी नहीं और आगे पढ़ाने का बूता घरवालों में था नहीं। पिता जी सरकारी मुलाजिम हैं। ऊपर की कमाई न हो, तो घर मुफलिस-सा लगता है। इसलिए मैं बाहर ही रहता हूँ। बिना काम घर के बाहर रहना ही आवारागर्दी होती है। इससे मेरी प्रवृत्तियाँ हिंसक हो उठी हैं। मन करता है सब कुछ बदल डालूँ। सोचता हूँ, क्या इसी भाव को क्रांति कहते हैं?

दो बहनें हैं। मुझे दो-तीन साल छोटी हैं। दोनों ने शादी की दहलीज पर पैर रख दिये हैं। मैं पिता की परेशानियाँ समझता हूँ। माँ अपना हाथ हमेशा तंग रखती हैं। सोचती हैं, जो बच्चे वही काम आयेगा।

हमारे घर में बात-बात पर दोनों बहनों को बेवकूफ सिद्ध किया जाता है। इससे वे दोनों अभी भी अपने को बच्चियाँ समझती हैं। किसी से प्रेम करने का अधिकार जवान लड़की को होता है, बच्ची को नहीं। हो सकता है हमारे घर में यही मनोविज्ञान व्याप्त करने का प्रयास किया जा रहा हो। परन्तु कोई जवान लड़की मुझ-जैसे बेकार लड़के से प्यार कर बैठे, तो उसे महामूर्ख ही कहा जायेगा।

मेरे ही मोहल्ले की लड़की निशा जब मुझे प्यार करने लगी, तो मुझे लगा, मैं भी कोई चीज हूँ। कई महीनों से हमारा 'रोमाँस' चल रहा था। मिलते घर के बाहर ही थे। जीवन भर साथ निभाने की कसमें खायाँ। परन्तु शादी नौकरी मिलने के बाद ही होगी, यह शर्त जब वह रखती, तो मैं कहता, “निशा, देखना एक दिन तुम्हारे कदमों में लाखों न्योछावर कर दूँगा।” वह व्यर्थता-बोध से हँस देती।

मैं नौकरी के लिए फिर से दौड़-धूप करने लगा। जहाँ जाता, वहाँ सिफारिश या घूस माँगी जाती। मेरे पास दोनों ही नहीं थी। उदासी, निराशा, हताशा मेरे जीवन के स्थायीभाव बनने लगे।

मैं और निशा अक्सर पार्क में मिलते थे। एक दिन उसने बताया कि दो दिन बाद उसके माता-पिता शहर के बाहर जा रहे हैं, घर में सिर्फ बूढ़ी बुआ रह जायेंगी। उस दिन दोपहर की फिल्म देखी जा सकती है। यह प्रस्ताव सुनकर मुझे तो जैसे पंख लग गये। जाना तय हो गया। दिल बल्लियों उछलने लगा। निशा के साथ अंधेरे में बैठने का सुख। बालकनी का टिकट लूँ, तो थोड़ा एकांत भी मिल सकता है।

पर लाख टके का सवाल यह था कि सिनेमा-टिकटों के लिए दो सौ रुपये कहाँ से आयें? माँ से माँगू, तो आँखें फाड़ के कहेंगी, “हाय लल्ला! दो सौ रुपये!” पिता जी देने से रहे।

कहते हैं आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। मैंने भी आविष्कार कर लिया कि मैं अपनी जरूरत चोरी करके पूरी करूँ। चोरी घर में करना सबसे सुरक्षित रहता है। मुझे आभास था कि पिताजी वक्त जरूरत के लिए थोड़ा पैसा अपनी अलमारी में रखे रहते हैं। कभी जरूरत पड़ सकती है। किसी की हारी-बीमारी। खुद भी दिल के मरीज हैं।

दो दिन हाथ साफ करने का मौका नहीं मिला। आज आखिरी दिन है। दिन क्या, ग्यारह बजे तक का समय है। ‘नून शो’ बारह बजे शुरू होता है। निशा सीधी थियेटर पहुँचेगी। पिता दफ्तर जा चुके हैं, बहनें कॉलेज चली गयीं। पड़ोसी की नयी बहू आज वनदेवता की पूजा करने जायेगी, माँ को भी न्यौता है। पक्की बात है, वह भी साथ जायेगी।

मैदान तो साफ है, परन्तु माँ ग्यारह बजे तक न लौट आयी, तो मैं कैसे जा पाऊँगा? माँ से यदि सीधे-सीधे कह देता कि मुझे ग्यारह बजे इंटरव्यू के लिए निकलना है, तो शायद वह न्योता टाल जाती। उसके घर में रहते

मैं अपना काम नहीं कर पाता। अतः उसे समझा दिया कि अगर वह ग्यारह के बाद आये तो संतू पंसारी के यहाँ से घर की चाबियाँ उठा ले।

सब लोग चले गये। घर मेरे हवाले हो गया। उस समय साढ़े दस बजे थे। मेरे पास सिर्फ आधा घण्टा था। पहले सोचा माँ का बक्सा देख लूँ, पर मन नहीं माना। पिता जी की कोठरी में दबे पाँव घुसा, जैसे मैं वाकई चोर हूँ। वहाँ दो बक्से, चारपाई, अलगनी पर लटकते कपड़ों और लकड़ी की पुरानी अलमारी के सिवाय कुछ नहीं था। सिर्फ अलमारी में ताला लगा था। मुझे इसी से माल साफ करना था।

ताला मामूली-सा था। मरम्मत के डिब्बे से पेचकस ढूँढा, ताले के छेद में डालकर पेचकस थोड़ा ऊपर उठाया कि वह चट्ट से खुल गया। मुझे लगा कि शातिर चोर बनने के गुण मुझमें हैं। अलमारी खोली। उसके एक खाने में पुरानी फाइलें, पत्रिकाएँ और पता नहीं क्या-क्या भरा था। दूसरे और तीसरे खाने में किताबें थीं। लोग किताबों में भी रुपये छिपाकर रखते हैं लेकिन ज्यादातर धार्मिक पुस्तकों में। धार्मिक पुस्तक पहचानने के लिए एक-एक पुस्तक देखनी पड़ी- चंद्रकांता संतति (कई भाग), सुफेद शैतान, जाली नोट, नंगी लाश, आश्चर्य-वृत्तान्त, स्वर्गपुरी।

किताबें और भी थीं। मेरे हाथ धूल से सन चुके थे। इसका अर्थ यह हुआ कि किताबें बहुत दिन से छुई नहीं गयीं थीं। तीसरे खाने में दो-तीन मोटे ग्रंथ दिखे। पहला उठाकर देखा, भार्गव शब्दकोश था। इस पर भी धूल थी। अन्य ग्रंथों पर भी धूल थी, अतः उन्हें नहीं देखा।

निराश होकर अलमारी बंद करने ही जा रहा था कि नीचे एक चोर दराज दिखाई दी। उसे खोलने की तरकीब नहीं मालूम थी। सोच-विचार करने लगा और हाथ में पेचकस उठा लिया। तनिक-सा जोर लगाया तो दराज बाहर आ गयी। दरअसल कोई ताला लगा ही नहीं था।

दराज में सबसे ऊपर पुराना अखबार रखा था। उसे हटाया तो लाल जिल्द की एक डायरी दिखाई दी। डायरी उठाई तो उसके नीचे कल्पतरु के फल रखे थे। यानी सौ-सौ के छह-सात नोट। मैंने ईमानदारी से दो नोट उठाकर जेब में रख लिए। मेरी जेब पहली बार सौ के नोटों से धन्य हुई। डायरी हाथ से लिखी थी, प्रत्येक पृष्ठ पर

तारीख पड़ी हुई थी। अंतिम पृष्ठ पर लाल रेशनाई से कुछ लिखा हुआ था। उसे बंद करने ही जा रहा था कि अंतिम पृष्ठ की तारीख पर दृष्टि पड़ गई। बीस साल पुरानी तारीख। मुझे लगा अखबार भी इतना ही पुराना है।

अखबार और डायरी की तारीखों में समानता थी। अखबार सिर्फ एक दिन बाद का था। और चार तहों में था। उसे खोला तो बाक्स समाचार में ध्यान आकर्षित किया। शीर्षक था- “बाबू केदारनाथ की मौत का कारण-आत्महत्या।” आत्महत्या शब्द के ‘आत्म’ शब्दांश पर लाल रंग का घेरा खींचा गया था। मुझे फिर डायरी का वह पृष्ठ याद हो आया, जो लाल स्याही से लिखा गया था। उसे खोलकर फिर पूरा पढ़ना प्रारंभ किया। पढ़ते-पढ़ते मैं जड़ीभूत हो गया। जब चैतन्य हुआ, तो देखा साढ़े ग्यारह बजने वाले थे। मैंने वह पृष्ठ फाड़ लिया और हर चीज यथास्थान रखकर अलमारी बंद कर दी। ताला बंद नहीं हो सका, अतः ताला कुण्डे में लटका दिया। घर बंद किया, चाबी संतू पंसारी को पकड़ाई और चला गया।

जब थियेटर पहुँचा तो निशा मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। उसने टिकट खरीद लिये थे। मैंने ऐतराज किया तो उसने हँसते हुए कहा कि फिल्म देखने का प्रस्ताव उसी ने रखा था, इसलिए टिकट उसे ही खरीदने चाहिए। मैं जानता था उसने टिकट यही सोचकर खरीदे होंगे कि मैं बेकार आदमी हूँ, हो सकता है जेब खर्च भी न मिलता हो। मेरा मन फिल्म देखने में नहीं लगा।

फिल्म खत्म होने पर निशा तो घर चली गयी परंतु मैं मानसिक अशांति के कारण इधर-उधर भटकता रहा। रात्रि देर से घर गया। डर रहा था कि अलमारी का ताला टूटने की बात उठेगी परंतु कुछ नहीं हुआ। माँ उठी, मुझे खाना दिया और सोने चली गयी। मैंने जैसे-तैसे खाना ढूँसा और जाकर बिस्तर पर लेट गया।

इधर मेरी आशा के विपरीत पिता का व्यवहार मेरे प्रति सौहार्दपूर्ण हो गया। जेब खर्च भी देने लगे। मैं उनसे सशंकित रहने लगा।

पिता जी एक दिन घर में एकांत पाकर मुझे अपनी कोठरी में ले गये। मैंने चोर नजर से देखा, ताला अब भी वैसा ही खुला हुआ लटका था। कहीं ऐसा तो नहीं कि इनकी उस पर दृष्टि ही न गयी हो और मैं खामखाह मरा

जा रहा हूँ। उनके इशारे पर मैं कुर्सी पर बैठ गया।

मेरे सामने चरपाई पर बैठते हुए उन्होंने कहा, “बेटा श्रवण, लगता है कहीं नौकरी का जुगाड़ अब तक नहीं हो पाया है!” मैंने राहत की साँस ली कि अलमारी वाली बात नहीं उठी। लगभग प्रसन्न मुद्रा में कहा, “जी, मैं कोशिश कर रहा हूँ।”

“बेटा, नौकरी कोशिश से नहीं, उपाय से मिलती है, जुगाड़ से मिलती है। नौकरी मिल जायेगी तो मनचाही शादी हो जायेगी। वंश आगे बढ़ेगा।”

पिता जी ने ‘मनचाही’ शब्द पर जोर दिया। क्या वे मेरी और निशा की बात जानते हैं? बहनों को तो भनक है इस बात की। मेरी कल्पना में निशा का वधू-रूप घूम गया। यह सपना साकार करने के लिए मैं कुछ भी कर गुजरूँगा। मैंने पक्का निश्चय कर लिया।

प्रकट में बोला, “फिर आप ही बताइये मैं क्या करूँ?”

“बेटा, मैं तुम्हारी बेकारी दूर करने और घर में खुशहाली लाने का उपाय बता सकता हूँ।”

“बताइये, बताइये, मैं कुछ भी करने को तैयार हूँ” मेरी उत्कंठा गले में आ लगी थी।

“देखो बात को गंभीरता से लेना, जीवन का कटु यथार्थ समझना और भावनाओं में मत बह जाना। मैं भी बहुत भटका था नौकरी के लिए। शादी हो गयी थी, तुम्हारा जन्म भी हो चुका था। चारो ओर से तानें मिलते कि मुफ्त की रोटियाँ तोड़ रहा हूँ। खैर, फिर भगवान ने सुनी। इस समय मैं अट्ठावन का हूँ— दो साल में रिटायरमेंट है। दिल का मरीज हूँ, कभी भी जिंदगी से रिटायर हो सकता हूँ। बहरहाल कुल मिलाकर मेरी जिंदगी तीन-चार साल से अधिक नहीं है। रिटायरमेंट के पहले मर जाऊँ, तो तुम्हें अनुकम्पा के आधार पर सरकारी नौकरी मिल सकती है।”

“कैसी बात करते हैं आप?” मैंने हतप्रभ होकर कहा।

“मैंने पहले ही कथा बेटा, भावनाओं में मत बहना। मृत्यु तो जीवन का अटल सत्य है, उससे क्या डरना! हाँ, तो मैं कह रहा था तुम्हें नौकरी और तुम्हारी माँ को पेंशन। फण्ड अधिक नहीं होगा। फिर भी उसे, ग्रेजुटी तथा बीमा को मिलाकर जो रकम हाथ लगेगी, उससे दोनों लड़कियाँ निपट जाएँगी। तुम्हारा हाथ खाली का खाली रह जायेगा और मेरी तरह तुम भी जीवन भर गृहस्थी की चक्की में

पिसते रहोगे।”

“लेकिन इसके आगे उपाय क्या है?” मैं भ्रमित था।

“उपाय है। समझो भगवान ने स्वर्णिम अवसर भेजा है। आम चुनाव घोषित हो चुके हैं। मेरी चुनाव-ड्यूटी भी लग गयी है, दूर देहात में तुम पोलिंग बूथ पर आकर मुझे इस तरह गोली मार दो कि मैं वहीं ढेर हो जाऊँ, तो बात बने।”

“क्या S S S S?” मैं हक्का-बक्का रह गया।

“क्या कह रहे हैं आप?”

“बेटा, मैंने पहले ही कहा था कि उपाय के लिए भावनाओं का नहीं बुद्धि का प्रयोग करना पड़ता है। देखो, घबराओ नहीं। इसमें कोई खतरा नहीं है। जहाँ मेरी ड्यूटी लगी है वह असंवदेनशील इलाका है। ऐसी जगहों पर पुलिस का प्रबंध बस कहने भर का होता है। वहाँ डण्डाधारी पुलिस रहेगी। तुम पोलिंग बूथ के आस-पास घूमते रहना। जब ऐसा सही मौका होगा कि तुम काम करके आसानी से फरार हो सको, तब मैं तुम्हें इशारा करूँगा। तुम निकास द्वार से आना। पीठासीन अधिकारी की कुर्सी पर बैठा मिलूँगा। मेरे सामने वोटिंग मशीन लगी होगी। बस यही पहचान होगी। गोली पीछे से चलाना, ताकि भागने में आसानी हो। निशाना नहीं लेना पड़ेगा, सिर्फ चार कदम के फासले पर मेरी कुर्सी होगी। तुम्हारे हाथ में कट्टा होगा, तो कोई पास नहीं फटकेगा।”

“कट्टा?” “हाँ, लो यह लिफाफा। इसमें एक हजार रुपये और कट्टा बेचने वाले का पता रखा है। बाग में जाकर कट्टा चलाना सीख लेना। यह योजना इसलिए बना रहा हूँ कि चुनाव-ड्यूटी पर मेरी मृत्यु होने पर तुम्हें नौकरी तो तत्काल मिलेगी ही, मुआवजे के रूप में चुनाव आयोग द्वारा दस लाख रुपये भी मिलेंगे।”

“दस लाख!” जो दस-दस रुपये के लिए तरस हो उसे दस लाख मिलने की बात।

“यह हत्या तुम मेरे कहने पर करोगे इसलिए तुम्हें पाप भी नहीं लगेगा। भगवान परशुराम ने पिता के कहने पर अपनी माता का सिर काट दिया था। उन्हें पाप नहीं लगा, क्योंकि पिता की आज्ञा सर्वोपरि होती है।” पिता जी इतना कहकर तेजी से बाहर चले गये।

मुझे लगा मैं दौड़ूँ और देवता-स्वरूप अपने बाप के पैरों से लिपट जाऊँ। इतना बड़ा त्याग, पुत्र के लिए। मैंने रुपयों

और पते का लिफाफा जेब में रख लिया। दूसरे दिन जाकर कट्टा खरीद लिया और चलाने का अभ्यास कर लिया।

अगर मैं अपनी कहानी यहीं समाप्त कर दूँ तो पितृहत्या कहकर आप मुझ पर थूकेंगे। लेकिन जरा धैर्य रखिये, थूकने का अवसर भी मिलेगा।

कट्टा खरीदने के एक साल बाद यह कहानी लिखी जा रही है। एक साल कटना बड़ा मुश्किल होता है, खासकर जब जिंदगी जेल की कोठरी में कैद हो। इसके पहले कि जेल अधिकारी मुझे ले जाकर पत्थर तोड़ने के काम पर लगा दें, मैं यह कहानी पूरी कर लेना चाहता हूँ।...

मैं नियत समय पर पोलिंग बूथ पर पहुँच गया था। काफी देर टहलता रहा। पिता जी इशारा देकर झट अंदर चले गये। मैं इधर-उधर देखता निकास द्वार पर पहुँचा। मशीन के पास जो आदमी बैठा था, उस पर दो-तीन गोलियाँ झोंक दीं। भागने के लिए मैं जैसे ही मुड़ा, मेरे सिर पर प्रहार हुआ। कट्टा मेरे हाथ से छूट गया। मैं बेहोश होकर गिर पड़ा। मुझे जब होश आया, तो मैं पुलिस-पहरे में अस्पताल में था। बाद में हवालात में डाल दिया गया। मुझे देखने घर का कोई सदस्य नहीं आया। आता भी कौन, पिता को तो मैं मार चुका था। पता नहीं किस जालिम ने मेरे सिर पर डण्डा मार दिया था?

पुलिस ने चार्जशीट दाखिल की। मेरे ऊपर हत्या का आरोप था। कट्टा बरामद हो गया था। उस पर मेरी उंगलियों के निशान पाये गये थे।

मेरे विरुद्ध गवाही देने जो व्यक्ति आया, वह और कोई नहीं मेरे पिता थे। उन्हें देखकर मुझे गश आ गया। मैंने जिस व्यक्ति की पिता समझकर हत्या की थी, वह बाबू नंदलाल थे— निशा के पिता जी। निशा के बयान कराये गये। उससे सिद्ध हो गया कि उसके पिता मुझ जैसे बेकार आदमी से अपनी लड़की की शादी करने के विरुद्ध थे। उन्हें रास्ते से हटाना ही हत्या का उद्देश्य माना गया। मुझे सश्रम आजीवन कारावास हो गया।

निशा के पिता चुनाव ड्यूटी पर थे, अतः निशा को दस लाख रुपये का मुआवजा मिला। मेरे पिता ने हत्यारे को बेहोशकर उसे पकड़वाने में वीरता दिखाई थी, इसके लिए

उन्हें एक लाख का पुरस्कार मिला और नौकरी में एक साल का विस्तार। यहाँ जेल में मेरा भी खाने-पीने का स्थाई प्रबंध हो चुका था। पिताजी के एक उपाय से तीन लोगों को फायदा हुआ।

आपके दिमाग में यह कीड़ा अवश्य रेंग रहा होगा कि एक पिता अपने पुत्र को क्यों फँसायेगा? जब तक आपको डायरी के पन्ने का रहस्य नहीं मालूम होगा, आप बात की तह तक नहीं पहुँच पायेंगे।

बताता हूँ, ताकि सनद रहे और वक्त जरूरत क्या, हमेशा काम आये। बीस साल पुराने उस अखबार में लिखा था, “बाबू केदारनाथ की मौत का कारण—आत्महत्या।” बाबू केदारनाथ और कोई नहीं मेरे दादा जी थे। पिता जी ने उनकी हत्या करके उसे आत्महत्या का रूप दे दिया था। उनकी जगह पिता जी को नौकरी तो मिल गयी थी; परंतु उनकी आत्मा उन्हें सदा कचोटती रहती होगी, तभी उन्होंने डायरी में आत्मस्वीकृति लिखी थी कि बेकारी से तंग आकर उन्होंने अपने उन पिता की हत्या की थी, जो एक वर्ष बाद रिटायर होने वाले थे।

मेरे पिता को मालूम हो गया था कि उनकी वह आत्मस्वीकृति मेरे हाथ लग चुकी थी और उसके आधार पर श्री केदारनाथ की तथाकथित आत्महत्या का मामला फिर से खुल सकता था। कानूनन चाहे कुछ न होता, समाज में उनकी किरकिरी तो हो ही जाती। बहनों से शादी कौन करता? उन्हें यह भी भय लगा कि कहीं मैं बेकारी से तंग आकर वही उपाय न अपनाऊँ, जो उन्होंने अपनाया था। इसलिए मुझे रास्ते से हटाना उन्हें जरूरी लगा।

आज मैं जेल में पत्थर तोड़ रहा हूँ। आरामदेह सरकारी नौकरी का सपना छोड़कर अगर मैं भी मेहनत मजदूरी करता, तो स्वतंत्र रहकर जीवनयापन कर सकता था।

अब आपको कहाँ और किस पर थूकना है, यह बताने की जरूरत नहीं। बस यही प्रार्थना है कि मेरे पिता जी पर न थूकें क्योंकि वे तो डायरी का एक पन्ना और लिखकर फिर अपराध-बोध से मुक्त हो गये होंगे। थूकें उस व्यवस्था पर जो बेकारी तो पैदा करती है पर उसे दूर करने का कोई उपाय नहीं करती।

संपर्क: 104ए-315, रामबाग, कानपुर- 208012 मो. 9839164507

## अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस पर विशेष

## मेरा आकाश

## कविता विकास

शाम का धुंधलका घिरने लगा था। पेड़ों की डालियाँ पंछियों के कलरव से गूँज रही थीं। अपने नीड़ में लौटने की खुशी हर संवेदनशील प्राणी को होती है। मैं भी आज जल्द ही अपने ऑफिस से निकल गयी। प्राचार्या बनने के बाद मैं ज्यादा समय स्कूल में बिताती थी, छुट्टी के बाद भी एक-दो घंटे रुक कर सारे काम निबटाती। यूँ भी घर में मेरा इंतजार करने वाला कोई नहीं था। एकाकी जीवन जीते हुए एक लम्बा अरसा बीत गया था। जीवन के उतार-चढ़ाव बहुत कोमल उम्र से शब्दों में ढल कर कहानी-कविता बनने लगे थे, पर यह मेरे अस्तित्व को एक नयी पहचान दे देगा; यह तो उस दिन पता चला जब मेरी रचनाओं की डायरी विपुल के हाथों लग गयी। मेरे चैम्बर में मेरे भाई सरीखा एक कॉलेज का स्टाफ जो बहुत मुँहलगा था, फाइलें उठाते समय खुली हुई डायरी की चंद पंक्तियाँ पढ़ने लगा। मेरी अनुपस्थिति में उन्हें पढ़ते हुए अनायास उसके मुँह से “वाह”, “गजब” आदि शब्द निकल रहे थे। मैंने जब कमरे में प्रवेश किया, वह डायरी पढ़ने में तल्लीन था। मैंने लगभग डाँटते हुए उसे डायरी बंद करने को कहा। उसने बड़ी मासूमियत से जवाब दिया, “गुस्ताखी माफ़ दीदी, मैंने आपसे बिना पूछे आपकी डायरी में हाथ लगाई। पर क्या करूँ, एक-एक पंक्ति ने मुझे जैसे बांध लिया। “क्या खूब लिखती हैं आप! एक सलाह दूँ, आप इसे छपवा डालिये। रचनाकार समाज के हित में काम करता है। आपकी रचना में लाखों दिलों की वेदना छिपी है। प्लीज दीदी, इंकार मत करिये। मुझे दे दीजिये, मैं यह काम करूँगा।” मैं उसे न नहीं कर सकी। उसने प्रकाशक से संपर्क करके, वांछित सुधार कर एक कहानी संग्रह छपवा डाला। और, मजे की बात, हिंदी परिषद की ओर से उस कहानी संग्रह को साल की सबसे उत्कृष्ट रचना पुस्तक का राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिल गया। ऐसा नहीं था कि यह मेरी पहली रचना थी। बचपन में मिली दुत्कार और समय-समय पर मिलने वाले अपमान की टीस को पन्नों पर बारह-तेरह वर्ष की अवस्था में ही उतारने लगी थी, पर सबसे छुपा कर उन्हें डायरी में बंद रखती क्योंकि मुझे पता था कि जिस घर में लड़की के रूप में जन्म लेना अपराध माना जाता है, वहाँ मेरी भावनाओं की क्या कीमत होगी। खैर, इस पुरस्कार के बाद पार्टियों का लंबा सिलसिला आरंभ हुआ जो हफ्ते भर चलता रहा। शायद उसी की थकावट होगी जो आज छुट्टी के बाद घर जाकर आराम करने का मन हो गया।

घर पहुँचने पर रोज की तरह नंदू ने दरवाजा खोला। मैं सोफे पर बैठ कर अखबार पलट रही थी और नंदू के चाय का इंतजार भी। चाय पीकर ही फ्रेश होने जाती हूँ। तभी कॉल बेल की आवाज आयी। नंदू ने दरवाजा खोलने के पश्चात आंगंतुक से मुखातिब होकर बताया, “दीदी, वीरभद्र से कोई आया है।” वीरभद्र का नाम सुनते ही मैं चौंक गयी। पर बगैर किसी शिकन के कहा, “बोल दो काम में व्यस्त हूँ। अभी नहीं मिल पाऊँगी।” पाँच मिनट बाद आंगंतुक के साथ जिरह-पैरवी कर नंदू फिर आया और एक कागज़ पकड़ाते हुए कहा, “उन्होंने यह सूचना आपको देने कहा है।” कागज़ पर लिखा था, “रोहन राजपूत उर्फ सोनू।” मैं एक पल को सन्न रह गयी। नंदू को इशारा किया कि उसे अंदर ले आये।

जैसे ही सोनू ने प्रवेश किया, मैं सकते में आ गयी। मेरा छोटा भाई सोनू मेरे विवाह के समय कक्षा आठ



में था और अब पंद्रह साल बाद एक लम्बा, खूबसूरत, गोरे रंग का बेहद स्मार्ट युवक। एकबारगी तो मुझे विश्वास नहीं हुआ कि यह वही सोनू है जिसे गोद में लेकर मैं पूरा मोहल्ला घूम जाती थी। जैसे ही उसने मेरे पैर छूए, मैंने उसे गले से लगा लिया। एक आत्मिक अनुभूति जो एक लंबे अंतराल के बाद मिली थी, वह अवर्णनीय थी। हम दोनों भावतिरेक में रो पड़े थे। उसने अपने आप को मुझसे अलग करते हुए कहा, “कैसी हो दीदी?” मेरे जवाब की प्रतीक्षा किये बिना बोल उठा, “अखबारों में तुम्हें मिलने वाले पुरस्कार की घोषणा और बाद के फोटो देखकर रहा नहीं गया, माँ को बिना बताये ही चल पड़ा।” “माँ कैसी हैं? पापा के पैरों का दर्द ठीक हुआ? तुम अभी क्या कर रहे हो?” मैंने प्रश्नों की झड़ी लगा दी। सोनू ने कहा, “सब कुछ एक ही साथ पूछ लोगी क्या?” “शायद तुम्हें पता नहीं दीदी, पिता जी तीन साल पहले गुजर गए।” मुझे कोई आश्चर्य नहीं लगा कि पिताजी के मरने की सूचना मुझे नहीं दी गयी, आखिर उस परिवार ने बेटी होने की सजा मुझसे दुश्मनी की हद तक निभायी।

“मैं एक मल्टी नेशनल कंपनी में बंगलौर में पोस्टेड था लेकिन पिताजी की मृत्यु के बाद उनके कार्य-भार संभालने वीरभद्र आ गया,” सोनू ने बताया। इसी बीच नंदू चाय-नाश्ता ले आया। चाय की चुस्कियाँ लेता हुआ सोनू मेरे घर का मुआयना कर रहा था मानो वह जान लेना चाहता था कि उसकी दीदी वर्षों से बिना किसी मदद के कैसे तटस्थ रही और कितनी संपन्न है। उसने गाँव-घर और अन्य रिश्तेदारों के बारे बताया। कौन जिंदा है, कौन नहीं, फसल-व्यापार के नफा-नुकसान, किसकी शादी हो गयी किसकी नहीं, रघु काका ने पिताजी की संपत्ति हड़पनी चाही और कैसे पिताजी ने उन्हें गाँव से बाहर निकाल दिया, आखिर पिताजी गाँव के सबसे सशक्त जमींदार थे, सब कुछ। मेरे चेहरे के आते-जाते भाव पर वह एक बुजुर्ग की भाँति मेरा हाथ अपने हाथों में लेकर बैठ गया। कभी किसी बात पर जब अनायास आँखें छलक पड़ती तो उस पीड़ा को महसूस कर वह चुपके से अपने कोर भी पोंछ डालता। करीबन दो घंटे में वह पंद्रह साल की बीती बातों को संक्षिप्त बोल गया। फिर अचानक घोषणा की, “दीदी मैं रात की गाड़ी से निकल जाऊँगा, कल दोपहर तक पहुँच जाऊँगा नहीं तो निन्नी मेरे बिना खाना नहीं खायेगी।”

“निन्नी, ये निन्नी कौन है?” “मेरी दो साल की बिटिया।” “मैंने अपनी नजरें झुका ली। एक बार उस घर में बेटी होने का दंश मैं भोग चुकी थी। फिर पोती होने का अभिशाप क्या उसे नहीं झेलना पड़ेगा? या घर में पोती के प्रेम ने माँ-पिताजी के स्वभाव में बदलाव ला दिया? न चाहते हुए भी मैं पूछ पड़ी, “सब लोग निन्नी को प्यार करते हैं न?” मेरा आशय वह समझ गया था। “दीदी, निन्नी के जन्म के बाद पापा कई दिनों तक मुझसे और रीतु से बात नहीं करते थे। रीतु को एक-दो बार उन्होंने उलाहना भी दिया मानो बेटी को जन्म देकर उसने कोई अपराध किया हो। रोज़-रोज़ के कलह से तंग आकर मैंने अपना घर अलग करने की बात कह दी। मैंने उनसे साफ-साफ कह दिया, दीदी, जिस अपमान को आजीवन भोगी है मैं वह अपनी बेटी के साथ नहीं होने दूँगा। दीदी से कुछ साल बड़ा होता तो शायद मैं दीदी के साथ खड़ा होता। पर वह समय हाथ से निकल गया। ठाकुर परिवार में केवल बेटे पैदा हों, बेटी नहीं, यह कैसे संभव है? पिताजी इस दो टूक फैसले को न तो मान सकते थे और न ही अपनी दकियानुसी सोच से छुटकारा पा सकते थे। उन्होंने खाना-पीना छोड़ दिया और एक रात बाथरूम में ऐसा चक्कर खाकर गिरे कि उनका ब्रेन हेमरेज हो गया।” मैंने समझ लिया कि पिताजी को पोता न होने का कितना गहरा आघात लगा होगा। मैंने जल्दी-जल्दी सोनू के लिए खाना तैयार करवाया। जाते-जाते वह फिर मेरे गले लग गया, जाने फिर जीवन में मुलाकात हो न हो। उसकी हर बात पर मेरी उत्सुकता बनी हुई थी, केवल एक बार यह सुनने की कि “दीदी, तुम्हें हम सब बहुत याद करते हैं।” शायद वर्षों का मलाल क्षण भर में मिट जाता, पर नहीं वह तो केवल इतना ही बोला, “अपना ख्याल रखना दीदी।” उसके जाने के बाद मैं बिस्तर पर लेट गयी। लगता था कितने दिनों की थकी हुई हूँ। दिमाग भनभना रहा था और आँखों से नींद कोसों दूर। पंद्रह साल पहले की कहानी चलचित्र की भाँति गुजरने लगी। एक बार तो कोप्रत भी हुई कि जब इतने सालों तक घरवालों ने कोई खोज-खबर नहीं ली तो अब क्यों पुरानी जख्म ताजा करने यह भाई चला आया? मेरा जन्म एक बेहद दकियानुसी ठाकुर परिवार में हुआ था। दादी बताती थीं कि मेरे जन्म के पहले पिताजी ने कई कर्मकांड करवाये थे कि बेटा हो। इसलिए मेरे जन्म के

समय मातमी शांति थी। पिताजी ने माँ से बात करना छोड़ दिया था। यह तो दादी थीं जो उन्हें समझाती रहीं कि बेटा या बेटा होने में बहू का कोई वश नहीं चलता। मेरे चाचा के बच्चों से पिताजी को विशेष लगाव था क्योंकि वे सभी लड़के थे। मेरी चाची को सभी सर आँखों पर बिठाते हालांकि दादी ने मेरे जानते हुए ऐसा भेदभाव कभी माँ के साथ नहीं किया। मैंने बहुत वर्षों बाद जाना कि मुझे बड़ी दो लड़कियों को जन्म के बाद शायद नमक चटा कर मार डाला गया था। पाँच साल के बाद जब मेरा भाई पैदा हुआ तब घर में दिवाली सा माहौल था। मेरे भाई और मेरे बीच जबरदस्त भेदभाव किया जाने लगा। समय के साथ मुझे महसूस होने लगा कि मैंने यहाँ जन्म लेकर अपराध किया है। पता नहीं शुरुआती दिनों की स्नेही माँ कैसे बदल गयी? वह भी केवल भाई के लिए सोचती। इतना होने पर भी सोनू के लिए मेरे मन में कोई बैर भाव नहीं जागा। हम दोनों एक-दूसरे को बेहद चाहते। मैं उसे अपने पास ज्यादा रखती क्योंकि स्कूल से आकर उसके नहलाने-खिलाने और खेलाने की जिम्मेवारी मुझे सौंप दी गयी थी। दादी की पहल पर मुझे पढ़ने का अधिकार मिल गया था। मैं पढ़ाई में अव्वल आती। लेकिन इंटरमीडिएट के बाद पिताजी ने पढ़ाई पर रोक लगा दी, उन्हें यह पैसे की बर्बादी लगता। पिताजी यूँ भी मुझे देखना नहीं पसंद करते। एक तलाकशुदा अधेड़ उम्र के पुरुष से मेरा विवाह करवा दिया गया, बदले में उसने कोई दहेज नहीं लिया। पिताजी सबको सुनाते कि चलो कुछ तो सुकर्म किये होंगे इस निगोड़ी ने जो बिन दहेज के कोई इसे पसंद कर लिया। इस बेमेल विवाह से केवल मेरी दादी और मेरा भाई दुखी था। विवाह के बाद मैं सोनभद्र आ गयी। खैर, विप्लव के साथ मेरी सबसे अच्छी बात यह रही कि उसने मेरी पढ़ाई जारी करवा दी। उसने विवाह के बंधन में नहीं जकड़ा। सोनभद्र आने के एक हफ्ते बाद ही उसने मेरा कमरा ऊपर की मंज़िल में करवा दिना ताकि मैं बिना किसी बाधा के पढ़ाई-लिखाई करती रहूँ। घर के काम-काज के लिए कई नौकर-चाकर थे पर फिर भी मैं रसोई वगैरह देख लेती। हलके-फुल्के काम-काज निबटा के कॉलेज जाती। मुझे आश्चर्य लगता कि विप्लव ने मुझे एक पत्नी की हैसियत से कभी नहीं देखा। मेरे प्रति कोई आकर्षण नहीं, शाद उम्र का तकाजा था। कॉलेज में लड़कियाँ पछुतीं,

“आज तू खूब सुन्दर लग रही है, पति ने क्या कहा?” मैं केवल मुस्करा कर रह जाती। विप्लव के प्रति मेरी नापसंदगी अपनी जगह थी पर उन्होंने भी कभी प्यार का प्रस्ताव नहीं रखा मानो—ह शादी नहीं, एक साथ रहने की कोई डील हो। वे नीचे के कमरे में चैन से रहते और मैं ऊपर के कमरे में। मेरी शादी के बाद न कोई मा-आके से मिलने आ-आ और न ही तीज-तौहार में किसी ने खोज-खबर ली। मुझे पता है शादी के बाद की पहली तीज में मैंने घर जाना चाहा था तो विप्लव ने कहा था, “अच्छी तरह सोच लो, वहाँ जाकर तुम्हें कुछ नहीं बल्कि बेइज्जती ही मिलेगी। उनके लिए तुम एक कचरा थी सो उसे फेंक कर उन्होंने अपने घर की सफाई कर ली।” फिर भी मैं ग-गी। उनका कहना ठीक ही था। सोनू आकर लिपट ग-आ और मेरा हाल-चाल पूछने लगा। माँ थोड़ी देर तक मेरे पास बैठीं, मेरे कपड़ों और श्रृंगार से मेरा रहन-सहन आंकने लगीं। लेकिन जैसे ही पिताजी आ-ये वह उठकर अंदर चली ग-गीं। पिताजी ने आते ही कहा, “—हाँ व-ग-गीं? अब इस घर पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। तुम्हें जन्म देकर तो हमने पहले ही जिल्लत पाई है। पता नहीं व-आ पाप कि-आ था मैंने जिसकी सजा तुम्हें जन्म देकर चुकाना पड़ा। अब इस घर को भूल जाओ।—हाँ भूल कर भी न आना।” पिता की बातें सुनकर मैं अवाक रह ग-गी।—तू भी पिताजी ने कभी किसी की परवाह नहीं की थी सो कोई उनकी बातों में हस्तक्षेप भी नहीं करता था। माँ ने सही-गलत के फैसले में कभी अपनी रा-आ नहीं दी और सोनू की सुनता ही कौन, उसे बड़ों के बीच अपनी बात रखने की इजाजत नहीं थी। चाचा—मामा आदि पिता जी के शागिर्द थे व-ग-गीं कि पिताजी घर में सबसे बड़े थे। ज़मींदारों में भी सबसे तेज-तर्रार। एक दादी थीं जो अपनी बात मनवा लेतीं थीं पर वृद्धावस्था में वह भी ज-आदा नहीं बोलती थीं—आ—तू कहें, सम-आ के आगे उन्होंने घुटने टेक दिए थे।

जैसे-तैसे मैंने रात गुजारी और सुबह की पहली गाड़ी से वापस आ ग-गी, फिर कभी वहाँ न जाने की कसमें खाते हुए। मेरे उतरे हुए चेहरे को देखकर विप्लव ने कहा, “सब ठीक है न, मैंने कहा था न, वहाँ तुम्हें कोई नहीं पड़ेगा।” मैंने तुम्हारे पिताजी की तुम्हारे प्रति उपेक्षा उसी दिन भांप लि-आ था जब वह तुम्हारा प्रस्ताव लेकर मेरे पास आ-ये थे। लगे हाथ उन्होंने एक और गोली दागी;—हाँ भी

कभी मुझे एक पति की जिम्मेदारियों की अपेक्षा न रखना। घर में नौकर-चाकर हैं तुम्हारा खाल करने के लिए।

मैं अपने कमरे में पहुँच कर काफी देर तक रोती रही। “हा-रे नसीब, लड़की होने का इतना बड़ा कसूर, पहले पिता ने नफरत की और अब पति ने।” देखते-देखते पांच साल बीत गए, मैंने मास्टर डिग्री हासिल करने के बाद डॉक्टरेट करना आरम्भ कर दिया। विप्लव की उपेक्षा धीरे-धीरे समझ में आने लगी। इस विवाह की आड़ में और पढ़ाई में मेरी वास्तवता का बहाना लेकर वह किसी और के साथ मशगूल रहता। घर के रसोई-या बिधान काका एक बुजुर्ग थे जिन्होंने अपने जवानी के दिन इसी घर में काटे थे। मालती दाई भी बहुत पुरानी थीं। सच कहूँ तो इन्होंने मुझे बहुत सहारा दिया। नीचे के कमरे में मेरा जाना बिल्कुल मना था। अगर कभी उन्हें देखने का मन करता तो काका नहीं जाने देते। उन्होंने मुझे दबी जवान में विप्लव की आदतों के बारे में सब बता दिया था। मैं रोष में विप्लव से लड़ने का जब भी कोई कदम उठाती, मालती मुझे समझा-बुझा कर चुप करा देतीं। शा-द उन्हें भी अपना काम छूट जाने का भ-या था। एक बार काका ने मुझे ठंडे दिमाग से -ह सोचने को कहा, “-हां तुम्हें खाने-पीने, रहने की कोई कमी नहीं है। आखिर तुम मालकिन हो। तुम अगर मुंह खोलोगी तो घर से बाहर कर दी जाओगी। इसलिए चुपचाप विप्लव बाबू से मन हटा कर अपने पैरों पर खड़ा होने का प्र-ाल्न करो। फिर कोई कड़ा निर्ण-या ले लेना।” उनकी बातों में दम था। मैंने विप्लव की नज़रों में अपने आप को निरीह बना दिया था मानो एक कमज़ोर पत्नी, जिसे पति के विरुद्ध आवाज़ उठाने की आज्ञा दी नहीं हो। इस बात का खुलासा तब तूल पकड़ा जब मेरी कुछ रचनाएं स्थानी-या संपादकों ने छापना शुरू किया। रचनाओं के साथ दिया हुआ मेरा परिच-या और फोटो से लोगों ने मेरे पति के बारे में भी जाना। उसी में किसी ने फ़ोन कर के बताया कि जिसे आप विप्लव शर्मा के नाम से जानती हैं वह असली में भोलानाथ है और शहर की एक वेश-या के साथ उसका संबंध है। इसलिए मेरी रचनाओं के प्रकाशन के बाद विप्लव ने आपत्ति जताई थी कि लिखने से कोई मनाही नहीं पर छपवाना नहीं है। उनकी असलि-यात जानने के बाद मैंने भी त-या कर लिया कि मैं इनसे विधिवत

अलग होकर एक स्वतंत्र वा-क्तित्व का निर्माण करूँगी। संघर्ष मनुष-या को -या तो तोड़ देता है -या जोड़ देता है। मुझे मेरी नि-याति ने मजबूत बना दिया था। कुछ बुरे लोग मिले तो अनेक अच्छे लोग। अपना अतीत भूल कर नए सिरे से ज़िन्दगी की शुरुआत करूँगी।

मेरे इस नए निर्ण-या का मेरी सहपाठियों और कॉलेज की विभागाध-याक्ष मीरा दी ने स्वागत किया-या। तब तक पी. एच.डी. पूरा होने में कुछ समय-या था। कॉलेज के प्रिंसिपल के अनुग्रह पर मुझे उसी कॉलेज में वा-याख-याता की नौकरी मिल ग-याी। मैंने -याह सब अभी तक विप्लव को नहीं बताया था। जब मैंने अलग ठिकाने की तलाश कर ली तब एक दिन उनके कमरे में जाने का निर्ण-या किया, जहाँ मेरे जाने पर प्रतिबंध था। दोपहर का समय-या था। मैंने बिन खटखटा-ये दरवाज़ा ठेला और अंदर घुस ग-याी। सामने सोफे पर विप्लव और एक अधेड़ उम्र की महिला आपत्तिजनक मुद्रा में बैठे हुए थे। मुझे इस तरह अंदर आते देख वह बरस पड़ा, “तुम -याहाँ क-याँ आ-याी?” उसके बात का जवाब दिए बगैर मैंने कहा, “तलाक की नोटिस तुम तक पहुँच जा-यागी।” मैं जा रही हूँ। बिफर कर एक घा-याल शेर की तरह विप्लव ने हमला करना चाहा, “अपनी औकात मत भूलो। मेरे आसरे पलने वाली औरत आज मुझ पर सवाल उठा रही है।” इतने दिनों से अपने वज़ूद के कण-कण को समेटती हुई जिस स्वाभिमान की मैंने मान रखी थी, वह बिखर न जाए, इसका सदा ध-याान रखा था। मेरे संघर्ष ने मुझे बहुत बलवान बना दिया था। मैंने पलटकर एक झन्नाटेदार तमाचा विप्लव की गाल पर जड़ते हुए कहा, “-याह मत समझना मेरी बदनसीबी ने मुझे कमज़ोर कर दिया है। सामाजिकता की आड़ में मुझे अपनी पत्नी बना कर तुमने सभ-या कहलाने का नाटक किया-या था, सच पूछो तो तुम ही मेरे आसरे पल रहे थे। तुम्हारी पहली पत्नी ने तुम्हें देर से पहचाना था, मैंने थोड़ा जल्दी पहचान लिया-या।” उसने उपहास उड़ाते हुए कहा, “जाओगी कहाँ? अपने मा-याके. ... हा हा हा। उन्होंने तो तुम्हारे हाथ पीले कर पल्ला झाड़ लिया-या है।” मैंने जवाब दिया, “मुझे किसी सहारे की ज़रूरत नहीं। मैंने जीना सीख लिया-या है। और हाँ, मेरी खोज-खबर लेने की कोशिश मत करना। मुझे आपके मुआवजे की कोई चाह नहीं। मैंने वकील साहेब को लिखित रूप में सब समझा दिया-या है।”

“तुम इन्ही औरतों के साथ दिन-रात गुजारो। -ह मत समझना कि मुझे तुम्हारी करतूतें आज मालूम हुई हैं। जिस दिन तुमने मेरा कमरा अलग करवा दि-या था, तुम्हारी आदतों की भनक मुझे उसी दिन लग ग-यी थीं। पर पढ़ना मेरी मजबूरी थी और लाचारी भी। अपनी पढ़ाई पूरी कर अपने पैरों पर खड़ा होने तक -ह मकान मेरा आश्र-य भर था और कुछ भी नहीं”, कह कर मैं निकल ग-यी। मैंने झट अपना जरूरी सामान बाँधा और अपनी सहकर्मी मिसेज गो-अल के -हां पहुँच ग-यी। उन्होंने बड़े प्रेम से मेरा स्वागत कि-या। नि-अति की मार झेली वह भी एक सिंगल वुमन थीं। दो दिनों बाद मैंने कॉलेज के समीपवर्ती कॉलोनी में शिफ्ट कि-या। अकेले रहते हुए मैंने अपने-आप को काम में इतना ब-स्त कर लि-या था कि पिछले दिनों की कोई -आद ना आ सके। कॉलेज के बाद रचनात्मक कामों में वक़्त गुजर जाता। -तू तो मैं खुश थी -या खुश रहने का प्र-अल करती फिर भी कभी-कभी विप्लव के घर की तरफ जाने का मन करता, लगता देखूँ उस घर के नौकर-चाकर जो बड़ी तन्म-अता से मेरी देख भाल कर रहे थे, अब मुझे -आद करते हैं -या नहीं। पर मैं तत्क्षण अपने को संभाल लेती। मेरे तलाक की खबर मैंने माँ को भेजी थी पर उधर से कोई जवाब नहीं आ-या। न किसी सहारे की पेशकश, न ही कोई द-आ-मा-आ का सन्देश। छह-सात महीने के बाद मुझे लगने लगा, मैं इस शहर से दूर चली जाऊँ; जहाँ मेरा अतीत पीछे छूट जाए। इतिफ़ाक़ की बात थी, उसी सम-अ कुशीपुर में एक आवासी-अ विद्याल-अ में प्राचा-अ के पद के लिए रिक्त स्थान की सूचना अखबारों में आ-गी। मैंने फ़ार्म भर दि-या। नि-अत सम-अ पर लिखित परीक्षा के साथ इंटरवू हुआ और मैं चुन ली ग-यी।

पहाड़ों के बीच बसा कुशीनगर अपनी प्राकृतिक सुंदरता के कारण जाना जाता है। -हां के लम्बे-चौड़े अहाते में स्थित गर्ल्स सेकेंडरी स्कूल अपनी बेहतरीन पढ़ाई के लिए दूर-दराज के इलाकों में प्रसिद्ध है। छात्रावास में भी लड़कि-यों को विशेष सुरक्षा और सुविधा दी जाती है। -ह जगह मुझे बहुत पसंद आने लगा था। स्कूल के कामों में मैंने अपने आप को इतना ब-स्त कर लि-या कि अपनी पिछली ज़िन्दगी मैं करीब-करीब भूल ही ग-यी थी। छात्रावास

की लड़कि-यों में अपना बचपन मिल ग-या था। उनके साथ प्रिंसिपल होने के बावजूद भी एक दोस्ताना रिश्ता का-अम हो ग-या था।

लिखने का शौक बचपन से था पर हालात ने बहुत ज-आदा मौका नहीं दि-या था। जो भी लिखा, अपनी ब-आथा-कथा और संघर्षों से प्रेरित भावनाओं को लेखनी का माध-अम बना-या जिसमे लड़कि-यों के उत्पीड़न और समाज में उनके स्थान पर प्रबल प्रहार होता। इसलिए असंख-अ लोगों को उसमे अपनी कहानी दिखती। अब मैं स्वतंत्र होकर लिखती। मुझे मेरा आकाश मिल ग-या था। लगता जैसे एक परिदे ने अपनी परवाज़ पहचान ली थी। विद्याल-अ के सभी शिक्षक, स्टाफ और बच्चों का भरपूर सह-अोग मिलता। एक अरसे के बाद माँ-पिताजी का चेहरा मेरे सामने से गुज़र ग-या। पल भर को दादी, चाची-चाचा सभी की -आद आ ग-यी। वो घर और चौबारा जिसने मुझे कभी नहीं अपना-या, हमेशा लड़की होने के अपराध-बोझ से घिरी रही; आज सबके मोह-बंधन ने मुझे खींचना चाहा। वह मोह -बंधन जो सदा एक तरफ़ा रहा। लगा जैसे आँखें भींग रहीं हैं, पर मैंने एक झटके से इन ख-आलों को परे धकेल दि-या और खिड़की के पास आ खड़ी हुई।

रात बीत चुकी थी। चिड़ि-यों की चहचहाहट और पहाड़ के पीछे से फैलती हल्की किरणें न-गी सुबह का संदेशा ला रहीं थीं। रात भर जागने के कारण आलस और सिर भारी-भारी सा लग रहा था। फ़ेश होकर चा-अ की चुस्कि-आँ ले रही थी। तभी दरवाज़े से छात्रावास की लड़कि-यों का समूह आता दिख पड़ा। उन्हें देख -आद पड़ा कि आज रविवार है और हरेक रविवार को हम स्कूल के पीछे बना पंछि-यों के हाते में उन्हें देखने जाते हैं। -ह एक मिनी चिड़ि-आघर था जहाँ कुछ रंग-बिरंगे पंछी और घरेलू जानवर थे। लड़कि-यों ने एक स्वर में “गुड मॉर्निंग” कहा और बाग़ में चलने की ज़िद की। “दीदी देखि-ये, पहाड़ के पीछे बादल उमड़ रहे हैं, म-अूर भी नाच रहा है”, गीतिका ने कहा। मैंने उन्हें थोड़ी देर रुकने को कहा और स्व-अं तै-आर होने चली ग-यी। मैंने सुर्ख लाल सूट पहना। रास्ते भर लड़कि-यों की चुहलबाज़ि-आँ मुझे गुदगुदाती रहीं। सच, मेरी ज़िन्दगी खूबसूरत हो ग-यी थी।

**संपर्क:** डी.-1, सेक्टर-9, पी.ओ.-को-आलानगर, जिला-धनबाद, पिन- 826002, झारखण्ड **मो. 09431320288**

## लातिनी अमेरिकी कहानी

लातिनी अमेरिकी लेखक जोआओ गुइमारेस रोसा की कहानी  
'थर्ड बैंक ऑफ़ द रिवर' का अंग्रेज़ी से हिंदी में अनुवाद

## नदी का तीरा किनारा

अनुवादक: सुशांत सुप्रि-1

मूल लेखक: जोआओ गुइमारेस रोसा

पिता एक ज़िम्मेदार, भरोसे के क्राबिल और वावहारिक आदमी थे। बचपन से ही वे ऐसे ही थे। जब मैंने पिता को जानने वाले लोगों से उनके बारे में पूछा तो उन सभी लोगों ने पिता के बारे में -ही रा-1 वाक्त की। मुझे -गद नहीं आता कि वे मुझे अपने आस-पास के लोगों की तुलना में कभी ज़-गदा धुनी -ग रूखे मिजाज़ वाले लगे हों। हाँ, वे बातें कम ही कि-ग करते थे। हमारी माँ ही हर रोज़ हम तीनों को मुझे, मेरी बहन और मेरे भाई को, डाँटती-फटकारती -ग आदेश दि-ग करती थी। लेकिन एक दिन मेरे पिता ने अपने लिए एक नाव मंगवाई।

उन्होंने इस मामले को गंभीरता से लि-ग। उन्होंने अपने लिए बड़ि-ग मिमोसा काठ की नाव बनवाई। वह आकार में छोटी थी और उसमें केवल एक आदमी के बैठने की जगह थी। वह पूरी तरह से हाथ से बनी हुई मज़बूत क्रिस्म की लकड़ी की नाव थी, जो बीस-तीस बरस तक आराम से चल सकती थी। माँ नाव बनाने के विचार तक का मज़ाक़ उड़ाती रहती। वह पूछती, जिस वाक्ति ने अपने समूचे जीवन-काल में कभी ऐसे करतबों में अपना सम-1 वा-र्थ नहीं गँवा-ग, वह अपने जीवन के इस मुक़ाम पर अब नाव में बैठ कर मछली पकड़ने और शिकार पर जाने की बात सोच भी कैसे सकता है? पिता कुछ नहीं कहते।

तब हमारा घर नदी से एक मील से भी कम की दूरी पर था, हालाँकि अब -गह दूरी बढ़ गई है। घर के इतने करीब वह नदी बहती रहती- चौड़ी, गहरी और शांत। सदा खामोशी से बहती हुई। वह इतनी चौड़ी नदी थी कि उसका दूसरा किनारा नज़र ही नहीं आता था। मैं वह दिन कभी नहीं भूल सकता, जिस दिन नाव बन कर तै-गार हो गई।

पिता ने न कोई खुशी ज़ाहिर की, न उत्साह, न ही निराशा। सदा की तरह उन्होंने अपनी टोपी पहनी, हमें अलविदा कहा और चल पड़े। उन्होंने एक भी शब्द और नहीं कहा, किसी भी तरह का खाना -ग और कोई सामान नहीं लि-ग और न ही जाते-जाते हमें कोई सलाह ही दी।

हमें लगा जैसे माँ को चीखने-चिल्लाने का दौरा-सा पड़ जाएगा लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। केवल उनके चेहरे का रंग उड़ ग-आ और दाँतों से अपने होठ काटते हुए वे कड़वाहट से भर कर बोलीं- तुम्हारी मर्जी है, जाओ चाहे-हीँ रहो। लेकिन अगर जा रहे हो तो फिर कभी लौट कर नहीं आना!

पिता की चुप्पी रहस्यमयी बनी रही। उन्होंने प-आर से मेरी ओर देखा और मुझे अपने साथ लेकर चलने लगे। मैं माँ के गुस्से से डर रहा था, लेकिन मैं फिर भी पिता के साथ हो लि-आ। हम नदी की ओर बढ़ने लगे। मैं उनके साथ आश्वस्त महसूस कर रहा था। रोमांच से भर कर मैंने उनसे पूछा- “पिताजी, क्या आप अपनी नाव में मुझे भी ले चलेंगे?”

लेकिन उन्होंने मुझे आँख भर कर देखा, अपना आशीर्वाद दि-आ और इशारे से मुझे लौट जाने के लिए कहा। मैंने उन्हें दिखाने के लिए लौटने का नाटक भी कि-आ पर जैसे ही वे मुड़े, मैं उन्हें देखने के लिए घनी झाड़ि-ओं से ढँके एक गड्ढे में छिप कर बैठ ग-आ। पिता नाव में बैठे, नाव की रस्सी खोली और उसे खेते हुए दूर निकल गए। नाव की लम्बी परछाई पानी में किसी मगरमच्छ की तरह फिसलती चली गई।

पिता कभी नहीं लौटे। असल में वे कहीं ज-आदा दूर गए भी नहीं थे। वे नदी के ही एक हिस्से में नाव खेते रहे। उनकी नाव बीच नदी के उसी हिस्से में इधर-उधर आती-जाती रही। वे हमेशा नाव में ही रहते। उन्हें किसी ने फिर कभी नाव से बाहर नहीं देखा।-ह अजीब सच्चाई हम सभी को भ-आभीत करने के लिए काफ़ी थी। जो आज तक कभी नहीं हुआ था, वह हो रहा था। हमारे रिश्तेदार, पड़ोसी और जान-पहचान वाले, सभी इस अद्भुत घटना पर चर्चा करने के लिए इकट्ठा हुए।

माँ ने बेहद समझदारी से काम लि-आ। उन्होंने धीरज बनाए रखा। हालाँकि किसी ने भी-ह बात नहीं कही, लेकिन लगभग सभी का-हानी मानना था कि पिता पागल हो गए थे। केवल कुछ लोग ही ऐसे थे जिनका-ह मानना था कि शा-आद पिता ईश्वर को दि-आ ग-आ कोई वचन निभा रहे थे। कुछ लोगों ने-ह भी कहा कि सम्भवतः पिता को

कोढ़ जैसी कोई भ-आनक बीमारी हो गयी थी जिसकी वजह से वे एक दूसरा जीवन जीने के लिए हमें छोड़ कर दूर चले गए थे। किंतु दूर हो कर भी वे हम सब के पास ही रहना चाहते थे।

नदी के किनारे रहने वाले लोगों और-आत्रि-ओं से-ह खबर चारो ओर फैल गई थी कि पिता अब ज़मीन पर क़दम कभी नहीं रखते थे- न दिन में, न रात में। इंसानों से दूर वे अकेले और दिशाहीन-से नदी में भटकते रहते। माँ और हमारे अन्-आ रिश्तेदारों का मानना था कि पिता ने ज़रूर नाव में कुछ खाना छिपा कर रखा होगा जो जल्दी ही खत्म हो जाएगा। ऐसी हालत में उन्हें-हान् नहीं तो किसी और जगह नाव को किनारे पर ला कर ज़मीन पर आना ही पड़ेगा। इसका मतलब-ह होगा कि-आ तो वे हमेशा के लिए हमसे दूर कहीं चले जाएँगे-आ फिर अपने किए पर पछता कर वे घर लौट आएँगे।

लेकिन वे सब ग़लत थे। मैं गोपनी-आ तरीक़े से प्रतिदिन पिता के लिए कुछ खाना चुरा लेता था।-ह विचार मेरे मन में उस पहली रात को ही आ ग-आ था जब पिता के जाने के बाद परिवार के हम सब सदस्-आ नदी के किनारे लकड़ि-आँ जला कर प्रार्थना करते रहे थे और अधीर हो कर पिता को पुकारते रहे थे। उस दिन के बाद से हर रोज़ मैं पिता के लिए एक पूरी पाव रोटी, शक्कर-आ केले का गुच्छा लेकर नदी के किनारे जाता। एक बार एक घंटे तक बेचैनी से प्रतीक्षा करने के बाद पिता नज़र आए। आइने-सी चिकनी नदी में वे अपनी थिरकती नाव में शांत बैठे हुए थे। उन्होंने मुझे देखा पर न तो वे मेरी ओर आए, न कोई इशारा ही कि-आ। मैंने खाना उन्हें दिखा-आ और फिर नदी के किनारे पत्थरों के घिसने से बनी एक खोह के अंदर रख दि-आ। जानवरों, बारिश और ओस से वहाँ खाना सुरक्षित रहेगा, मुझे इसका-आक़ीन था। हर रोज़, लगातार, मैंने ठीक वैसा ही कि-आ। हालाँकि बाद में मैं-ह जानकर हैरान हुआ कि माँ को सब पता था। माँ जानबूझ कर खाना ऐसी जगह रख देती थी जहाँ से मैं आसानी से ले जा सकूँ। पिता के बारे में अपनी भावनाओं को उन्होंने कभी ज़ाहिर नहीं कि-आ।

बाद में खेती-बाड़ी और हिसाब-किताब में मदद के



लिए माँ ने अपने भाई को अपने पास बुला लि-गा। हम बच्चों के लिए भी एक शिक्षक नि-गुत कर दि-गा ग-गा ताकि हमारी पढ़ाई ठीक तरह से हो सके। माँ के कहने पर एक दिन एक पुरोहित पूजा का लिबास पहन कर नदी के किनारे ग-गा और झाड़ू-फूँक करके पिता पर हावी भूत-प्रेत को भगाने लगा। उसने चिल्ला कर पिता से कहा कि उन्हें -ह मूर्खतापूर्ण ज़िद छोड़ कर अपनी पारिवारिक ज़िम्मेदारि-गों को निभाना चाहिए।

अगली बार माँ ने पिता को डरा-धमका कर वापस बुलाने के लिए दो सिपाहि-गों को नदी के किनारे भेजा। लेकिन -गे सभी उपा-ा बेकार साबित हुए। पिता किनारे से दूर बने रहे। कई बार वे इतनी दूर चले जाते कि नदी के धुँधलके में वे बड़ी मुश्किल से नज़र आते। चूँकि कोई उनकी नाव के क़रीब नहीं जा पाता इसलिए न तो कभी कोई उन्हें छू पा-गा, न उनसे बात ही कर पा-गा। चिल्लाने पर भी वे जवाब नहीं देते।

कुछ अखबार वाले जब एक बार एक बड़ी नाव में बैठ कर उनकी तस्वीर खींचने गए तो वे भी बाक़ी लोगों की तरह असफल रहे। पिता अपनी नाव खे कर दूसरे किनारे पर चले गए। वहाँ वे झाड़ि-गों में जा छिपे। दूसरे किनारे पर मीलों तक दलदल और घनी झाड़ि-गें थीं। केवल वे ही नदी के उस इलाक़े का चप्पा-चप्पा जानते थे। अन्-ा लोग वहाँ रास्ता खो जाते थे। इसलिए भूल-भुलै-गा जैसी अपनी निजी पनाहगाह में वे महफ़ूज़ थे।

हमें इस सब का आदी हो जाना चाहिए था, लेकिन -ह मुश्किल था और हम कभी ऐसा नहीं कर सके। मेरा तो -ही मानना है। चाहे-अनचाहे मेरी सोच घूम-फिर कर उसी बिंदु पर आ जाती थी। मैं पिता के बारे में फ़िक्र करने से खुद को नहीं रोक पाता था। मैं समझ नहीं पाता था कि वे ऐसा जीवन कैसे जी पा रहे थे। रात-दिन, कड़ी धूप, मूसलाधार बारिश और आँधी-तूफ़ान जैसे कष्टों में भी वे नाव में डटे हुए थे। भ-ानक गर्मी और ठिठुरती सर्दी में, -हाँ तक कि साल के बीच के मुश्किल सम-ा में भी वे बिना छत -गा सुरक्षा के कैसे जी पा रहे थे? उनके सिर पर केवल एक टोपी थी और तन ढँकने के लिए बेहद कम कपड़े थे। फिर भी वे सप्ताह-दर-सप्ताह, महीने-दर-महीने,

साल-दर-साल, एक अर्थहीन, लक्ष-हीन, जीवन जीते चले जा रहे थे। पिता कभी ज़मीन पर नहीं आए। उन्होंने कभी रेतीले किनारे -गा घास पर पाँव नहीं रखा। वे कभी नदी में मौजूद किसी छोटे द्वीप पर भी नहीं उतरे।

-ह सम्भव है कि झपकी लेने के लिए कभी-कभार वे अपनी नाव को किसी टापू के गुप्त कोने में झाड़ि-गों से बाँध देते होंगे। लेकिन उन्होंने कभी किनारे पर आ कर आग नहीं सुलगाई, न ही कभी लालटेन -गा मोमबत्ती जलाई। -हाँ तक कि उन्होंने कभी माचिस की तीली भी नहीं जलाई। उनके पास कोई टॉर्च भी नहीं थी। अंजीर के पेड़ की जड़ों के पास बने खोखल में -गा नदी के किनारे की चट्टान की खोह में मैं उनके लिए जो खाना रख आता था उसमें से वे बहुत कम ही खाते थे। क-गा केवल उतना ही जीवित रहने के लिए प-ाप्त था? क-गा वे कभी बीमार नहीं होते थे? नाव को क़ाबू में रखने के लिए लगातार चप्पू चलाते रहने की शारीरिक ताक़त उन में कहाँ से आती होगी? वह भी तब जब बीच-बीच में नदी में बाढ़ के तेज बहाव के साथ मरे हुए पशुओं और जड़ से उखड़े पेड़ों की वजह से खतरा और भी बढ़ जाता था। ऐसी दशा में वे खुद को और अपनी छोटी-सी नाव को कैसे बचा पाते होंगे? -ह सब कितना डरावना और खतरनाक होता होगा।

पिता ने कभी किसी जीते-जागते इंसान से बात नहीं की। हम भी अब उनके बारे में आपस में बात नहीं करते थे, हालाँकि हम उनके बारे में सोचते ज़रूर थे। पिता को कभी भुला-गा नहीं जा सकता था। -दि कभी-कभार पल भर के लिए हम उन्हें अपने ज़हन से निकाल देते तो भी कुछ देर बाद अचानक उनकी -ाद हमें एक वेग के साथ जगा जाती। वे जिस भ-ावह स्थिति में अपना जीवन जी रहे थे। वह हमें बार-बार चौंका देने के लिए काफ़ी थी। मेरी बहन का ब-ाह हो ग-गा, किंतु माँ ने -ह समारोह बिना किसी ताम-झाम के, बेहद सादगी से पूरा कि-गा। जब भी हम कुछ अच्छा खाते-पीते तो हमें पिता का ख-ाल आ जाता। -ह बात हमें दुखी कर देती। और -ह भी कि मूसलाधार बारिश वाली सर्द, तूफ़ानी रातों में जब हम आरामदेह बिस्तरों में होते तब पिता अकेले अपनी असहा-ता

में खुद को और नाव को बचाने की जहोजहद में जुटे होते।

जान-पहचान वाले लोग अक्सर मुझे देख कर कह देते कि मेरी शक्ल अब मेरे पिता से मिलने लगी है। लेकिन मैं जानता था कि अब उनके बाल बढ़ चुके होंगे और दाढ़ी बेहद खुरदरी और सफ़ेद हो चुकी होगी। उनके नाखून भी बेहद बढ़ गए होंगे। मैं कल्पना कर सकता था कि अब वे कितने दुबले-पतले, कमज़ोर और बीमार लगते होंगे। हालाँकि मैं कभी-कभार खोह में उनके लिए कपड़े रख आता था, मुझे पता था कि अब वे लगभग गन ही होंगे। धूप में झुलसी उनकी त्वचा भी अब बड़े-बड़े बालों वाले किसी जानवर-सी हो गई होगी। पिता के बारे में सोचते ही मेरे ज़ेहन में उनकी -ही छवि उभरती थी।

पिता ने हमारे बारे में जानने की कभी कोई कोशिश नहीं की। क-आ उन्हें हमारी ज़रा भी परवाह नहीं थी? लेकिन मैं उनसे अब भी प-आर करता था, उनकी इज़्जत करता था। जब भी कोई किसी बात के लिए मेरी तारीफ़ करता तो मैं -ही कहता- “-ह सब करना मुझे पिताजी ने सिखा-आ था।”

-ह बिलकुल सच तो नहीं था लेकिन इस झूठ में सच्चाई भी थी। -दि पिता अब हमें भूल चुके थे और हमारे बारे में नहीं सोचते थे तो वे हमसे दूर नदी में और आगे क-ओं नहीं चले जाते थे जहाँ से न वे हमें देख सकते, न हम उन्हें देख पाते? वे क-ओं हमारे आस-पास ही बने हुए थे? इन प्रश्नों के उत्तर तो केवल वे ही दे सकते थे।

जब मेरी बहन ने बेटे को जन्म दि-आ, उसने ठान लि-आ कि वह पिता को उनका नाती दिखाएगी। परिवार के हम सब सदस-आ नदी के किनारे पहुँचे। वह एक खुशनुमा दिन था। मेरी बहन ने शादी का सफ़ेद जोड़ा पहन रखा था। उसने अपने बेटे को ऊपर उठा-आ और बच्चे के पिता ने उन दोनों के ऊपर एक छतरी तान दी। हमने पिता को आवाज़ दी और फिर इंतज़ार करते रहे। बार-बार पुकारने के बावजूद पिता नहीं आए। मेरी बहन फूट-फूट कर रोने लगी। अंत में वहाँ एक-दूसरे के गले लग कर हम सब बिलख-बिलख कर रोए। किंतु पिता नहीं आए।

इस घटना के बाद मेरी बहन और मेरे जीजा रहने के लिए कहीं दूर चले गए। मेरा भाई भी रहने के लिए किसी

और शहर में चला ग-आ। सम-आ तेज़ी से गुज़रता रहा। माँ बूढ़ी हो रही थी। अंत में वह भी रहने के लिए मेरी बहन के पास चली गई। केवल मैं वहीं रह ग-आ। अकेला। शादी करके फिर से परिवार बसा लेने का ख-आल मेरे मन में कभी नहीं आ-आ। अपने जीवन की विडम्बनाओं से घिरा हुआ मैं वहीं रुका रह ग-आ। हालाँकि पिता ने कभी मुझे नदी में अपने निर्धारित भटकने का कारण नहीं बताया, मुझे पता था कि उन्हें मेरी ज़रूरत थी। अंत में मैंने निश्च-आ कि-आ कि मुझे पिता के इस अजीब ँ-वहार का कारण जानना ही है। तब लोगों ने बताया कि शा-आद पिता ने अपनी -आत्रा की वजह उस आदमी को बताई होगी जिसने उनकी नाव बनाई थी। लेकिन अब उसकी भी मृ-आु हो चुकी थी और किसी को भी ठीक से इस बारे में कुछ भी पता -आ -आद नहीं था। हाँ, कुछ लोगों ने ज़रूर कुछ मूर्खतापूर्ण बातें बताईं। उन लोगों के मुताबिक़ बहुत पहले एक बार नदी में भ-आनक बाढ़ आई थी। तब सब को लगा था कि लगातार हो रही मूसलाधार बारिश की वजह से आई वह प्रल-आंकारी बाढ़ सबको लील जाएगी। उन लोगों का कहना था कि शा-आद पिता आने वाले प्रल-आ -आ तबाही के अंदेशे की वजह से नाव बनवा कर पहले ही निकल पड़े। मैंने भी -ह कहानी बहुत पहले सुनी थी हालाँकि अब मुझे -ह ठीक से -आद नहीं थी। कुछ भी हुआ हो, मैं अपने पिता को कभी दोष नहीं दे सकता था। अब तो मेरे सिर के बाल भी सफ़ेद होने लगे थे।

मेरे पास कहने के लिए केवल अफ़सोसनाक बातें थीं। इस सब के लिए बराबर मैं खुद को दोषी क-ओं मानता था? क-आ इसकी वजह मेरे पिता थे? उनका इस तरह चला जाना था? उनकी कमी का शिद्दत भरा अहसास था? -आ फिर वह नदी थी जो अनंत से अनंत तक बहती थी? सदा नवजीवन से भरी हुई। जिस में पिता भटक रहे थे।

मैं बूढ़ा होने लगा था। -ह अवश-आभावी था, मेरा -ह जीवन केवल उसे मुलतवी कर रहा था। मैं चिड़चिड़ा हो ग-आ था। बीमार और बेचैन रहने लगा था। और पिता? आखिर उन्होंने ऐसा क-ओं कि-आ? -आक्रीनन वे बहुत कष्ट झेल रहे होंगे। अब तो वे बहुत बूढ़े हो चुके थे। हो सकता

है, अपने जीवन के इस अंतिम सम-1 में किसी दिन वे नाव को उलट जाने दें। -11 जब नदी में बाढ़ आए तो वे चप्पू चलाना बंद करके नाव को उफ़नती धारा के हवाले कर दें ताकि नाव किसी शोर मचाते जल-प्रपात की विराट ऊँचाई से गिर कर नदी की अतल गहराई में सदा के लिए विलीन हो जाए। मेरा जीवन तनावपूर्ण बना हुआ था। पिता वहाँ नदी में भटक रहे थे। -11हाँ मेरी सुख-शांति हमेशा के लिए छिन गई थी। पता नहीं क-11ों, मैं हमेशा अपराध-बोध से घिरा रहता था। मेरा अंतर्मन भीतर तक छलनी हो चुका था। काश, मुझे पता होता। काश, चीज़ें कुछ अलग होतीं। और तब, एक दिन मेरे ज़हन में एक ख-11ाल आ-11ा।

वह विचार ऐसा था कि मैं अगले दिन के लिए भी नहीं रुक पा-11ा। क-11ा मैं पागल हो ग-11ा था ? नहीं। हमारे घर में -11ह शब्द ज़बान पर नहीं ला-11ा ग-11ा था। इतने बरसों में कभी नहीं। किसी ने किसी को कभी पागल नहीं कहा था। कोई पागल था भी नहीं। -11ा फिर सभी पागल थे। उस दिन मैं नदी के किनारे चला ग-11ा। मेरे हाथ में केवल एक कपड़ा था जिसे हिला कर मैं पिता का ध-11ान अपनी ओर खींचना चाहता था। मैं अपने पूरे होशोहवास में था। मैं इंतज़ार करने लगा। आखिर वे मुझे बहुत दूरी पर नज़र आए। उनकी धुँधली आकृति धीरे-धीरे स्पष्ट दिखने लगी। वे नाव में बैठे हुए थे। मैंने उन्हें बार-बार पुकारा। और तब मैंने उनसे वे सब बातें कह डालीं जिन्हें कहने के लिए मैं न जाने कब से उतावला था।

मैंने पूरी ताक़त से उन्हें विश्वास दिलाने के स्वर में कहा- “पिताजी, अब आप बूढ़े हो रहे हैं। आप बहुत लम्बे अरसे से वहाँ हैं। अब आप लौट आइए। आपने अपने हिस्से का काम कर लि-11ा। अब आप को वहाँ

रुकने की कोई ज़रूरत नहीं ... आप लौट आइए और आपकी जगह मैं चला जाऊँगा। इसी सम-1 -11ा जब भी आप चाहें तब। हम दोनों -11ही चाहते हैं। मैं नाव में आपकी जगह ले लूँगा।” और जब मैंने -11ह कहा, मेरा दिल तेज़ी से धड़कने लगा। लेकिन मेरे शब्द मेरे भीतर की सच्चाई और अच्छाई से उपजे हुए थे।

पिता ने मेरी बात सुनी। वे खड़े हो गए। उन्होंने चप्पुओं के सहारे नाव मेरी ओर मोड़ ली। वे मेरी बात मान गए थे। अचानक मैं भीतर तक काँप ग-11ा क-11ोंकि इतने बरस बाद पहली बार उन्होंने अपना हाथ उठा कर मेरी ओर हिला-11ा था और मैं कुछ न कर सका। बस खड़ा रह ग-11ा ... फिर मैं बेतहाशा भागा। डर के मारे रोंगटे खड़े हो गए। मैं वहाँ से पागलों की तरह भागता चला ग-11ा क-11ोंकि पिता जैसे क्रब्र से उठ कर आए हुए लग रहे थे ... किसी दूसरी ही दुनि-11ा से। मुझे माफ़ कर दें। माफ़ी माँगता हूँ मैं। केवल माफ़ी।

डर के मारे मेरा पूरा शरीर सर्द पड़ ग-11ा था। मैं बीमार हो ग-11ा। पिता के भरोसे को इस तरह तोड़ने के बाद क-11ा मैं इंसान कहला सकता हूँ? इस विफलता के बाद मेरे लिए अब चुप रहना ही बेहतर है। मैं जानता हूँ, अब बहुत देर हो चुकी है। अब पछताने से कुछ नहीं होगा। फिर भी मैं अपने इस सतही जीवन से चिपका हुआ हूँ। आत्म-हत्-11ा से डरता हूँ। लेकिन अंत में जब मृत-11ु आए तो मैं चाहता हूँ कि मुझे एक छोटी-सी नाव में लिटा कर नदी के अनवरत बहते जल में बहा दि-11ा जाए। इसी नदी में जिसके किनारे कभी ख़त्म नहीं होते। बहते-बहते मैं नदी की अथाह गहराइ-11ों में खो जाऊँ। इसके जल में समा कर नदी का ही हिस्सा बन जाऊँ। हमेशा के लिए।

### संपर्क :

A-5001, गौड़ ग्रीन सिटी, वैभव खंड, इंदिरापुरम,  
गाज़ि-गाबाद -201010 (उ.प्र.), मो. 08512070086

## अशक्त अंयाद की कविताएँ – ‘मोक्षधरा’

पुनीता जैन

‘मोक्षधरा’ सुधीर रंजन सिंह का दूसरा काव्य संग्रह है, जो दीर्घ अंतराल के बाद सम्मुख आ-या है। इस संग्रह की कविताएँ इस समझ को समृद्ध करती हैं कि कविता का काम अपने सम-या के बरक्स बेहतर सम-या का रूपक गढ़ना है। संग्रह की प्रथम कविता में ही कवि इसे बखूबी स्पष्ट कर देता है – “कविताओं! तुम्हें लिखने का अर्थ/ लिखना था आकाश में चिड़ि-गों का झुंड/ और उनके लिए लिखना था पृथ्वी पर/ हरी पत्ति-गाँ फूल और असंख-या बीज/ दृश-या में जो दबा कुचला था/ सबके लिए थोड़ा-थोड़ा विद्रोह लिखना था।” आगे की पंक्ति-गों में कवि किसी एक चिड़ि-या में दुबके सू-गोंद-या और आँखों में समुद्र का विस्तार पकड़ने की चेष्टा द्वारा प्रारंभ करके अपनी काव्य-चेतना में सामान-या और विशिष्ट, सरल और जटिल के द्वन्द्व के द्वार खोलने के लिए निकल पड़ता है, जो संग्रह की अंतिम लंबी कविताओं में विचार और स्वानुभूति की कई तहें खोलती है, लेकिन पाठक को चेतना के तनाव से मुक्ति का आनंद सौंपकर विदा नहीं होती, बल्कि उसके स्व’ में समाविष्ट हो जाती हैं। –तू भी कविता के असली द्वार तो उसका पाठक ही खोलता है। किस आस्वादक ने कविता के मौन का कौन सा द्वार खोला, –हैं पहुँचकर कविता की न-गी अन्तर्ध्वनि-गाँ बाहर आती हैं। इस अर्थ में ‘मोक्षधरा’ की कविताएँ अर्थ के कई स्तरों तक पहुँच बनाती हैं।

आज का सम-या अत्यधिक मुखर है किन्तु –ह कविता का स्वभाव नहीं है। शांत नदी की भीतरी सतहों में जिस तरह कई तरंगें, जलधाराएँ गतिशील रहती हैं, कविता का मूल चरित्र भी –ही है। आज हिन्दी में कविता लेखन की कमी नहीं है, किन्तु मंझी और सिद्ध होती हुई कविता अपने मौन में, ठहराव में शोर-शराबे के बिना अपने सम-या को मापती, पढ़ती है। संग्रह की एक उल्लेखनी-या कविता है ‘चील’। उड़ती हुई चील से ‘चील-झपट्टा’ के मुहावरे तक पहुँची ‘–ह’ कविता ‘हमारे सम-या की अराजकता’ उसकी चतुराई और धूर्तता को रेखांकित करते हुए प्रभावी रूपक गढ़ती है। ‘चील झपट्टा’ –दि हमारा सम-या है तो स्व-या चील- ‘पृथ्वी से ऊपर/ वह पृथ्वी का दृष्टांत थी।’ अपने सम-या के अक्स को इस तरह देखती –ह कविता वास्तव में कविता के वास्तविक चरित्र के साथ पाठक तक पहुँचती है।

इधर साहित्य का पाठक कविता से कतिप-या विमुख हुआ है और कविता का भी मूल स्वर मंद पड़ा है। दरअसल तकनीकी तौर से गढ़ी हुई कविता अपने कलात्मक गठन से चमत्कृत करने के बावजूद पाठक की रूह तक नहीं पहुँचती। वह चाहे तथाकथित सरोकारों के कितने ही झंडे लहरा ले, किन्तु जीवन की जड़ों से निकली कविता ही फिर जीवन में उतर उन जड़ों को सींच कर नवजीवन दे पाती है। विविधवर्णी जीवन से निकलकर फिर जीवन में लौटना, उन

रंगों को कभी चटक, कभी मंद करती कविता ही –गुगन संदर्भों में नए अर्थ-रंग भरती है। विष-1, घटना –1ा दृश-1 को अमूर्तन में ले जा उसे अपनी मर्म-दृष्टि से सिंचित कर उसका पुनरूपन करने वाली ‘मोक्षधरा’ की –1े कविताएँ कविता की ज़मीन पर लौट उसे उर्वर करती हैं। इसलिए अपने रचाव के श्रम को उजागर करती हुई भी पाठक की रूह तक पहुँचकर उसके दैनंदिन में स्मृति बन ठहरने की क्षमता के कारण –1े हिन्दी कविता को एक कदम आगे ले जाती हैं। –1े कला की ज़मीन पर खड़ी कविताएँ हैं– अनुभूतिक प्रवाह को समेटे ँ-1ापक मानव-दृष्टि के साथ। कविता जिस दृष्टि के सहारे सृजित हुई पाठक उसे उसी दृष्टि के द्वारा पकड़े –1ह जरूरी नहीं। कविता पाठक तक पहुँचकर न-1ी दृष्टि-चेतना की गूँज बने, –1ह आवश-1क है। ‘मोक्षधरा’ की कविताएँ पाठक को मुक्त कर नए अन्तर्जगत की सृष्टि करती हैं, –1ही उसकी क्षमता है। इस अर्थ में –1े सम-1 से मुक्ति की भी कविताएँ हैं। इन्हें आप लंबे अंतराल के बाद भी पढ़ेंगे तो –1े उतनी ही उस सम-1 की होंगी, जितनी आज की। अपनी कुछ लंबी कविताओं में तो कवि मुक्ति के महाका-1ात्मक अन्तर्द्वन्द्व से गुजरता दिखता है। उस अन्तर्द्वन्द्व में गहरा समाज-बोध है।

वास्तव में पाठक ज्ञान के स्तर पर नहीं अनुभूति के स्तर पर ही कविता से जुड़ता है। कवि की सृजन प्रक्रि-1ा में भाषा के अंतरालों के सघन मौन के साथ जुड़कर हम अपने सम-1 को पकड़ पाते हैं। –1े कविताएँ बिना ढोल पीटे हमारे सम-1 की मृत होती संवेदनाओं को कुरेदती हैं और कुछ नहीं तो इन कविताओं के दैनंदिन संदर्भ ँ-1ापक मानव-बोध द्वारा मन को शांति और स्वतःस्फूर्त ऊर्जा से भरते हैं, उन्हें पुनर्जीवित करते हैं।

अच्छी कविता, बड़ी कविता, महान कविता –1े वस्तुतः ऐसे मिथक हैं जिन्हें टूटना ही होता है। हालाँकि –1ह टूटना एक सम-1 को लाँघ कर ही हो पाता है। जो कविता अपने सम-1 के बरक्स खड़े होने का दम बने, उनका अतिक्रमण भी ऐतिहासिक होता है। इधर हिन्दी कविता ने ऐसा कुछ गढ़ा नहीं जिसके मानदंडों का टूटना इतिहास रचे। दरअसल कहानी-उपन-1ास सम-1 के स्थूल को सहेज लेते हैं, कविता में कहानी उपन-1ास का समग्र छन-छन कर उतरता है।

इस दुष्कर सम-1 का रूपक भी कविता में टूट-टूटकर ही उतर पा रहा है, वह अखंड नहीं है। वह खंडित सम-1 का खंडित अक्स है। इस खंडित के भीतर दूर तक पहुँच बना सम-1 के अखंड सच को पकड़ने की चेष्टा ‘मोक्षधरा’ की कतिप-1 कविताएँ करती दिखती हैं, जब उनकी का-1ा भंगिमा इस तरह सम-1 को पढ़ती हैं– “इसलिए देखने में आ-1ा है/कि कोई क्रूर तंत्र/किसी को मारने से अधिक/ उसकी नींद छीनने में –1कीन करे।” –तब –1ह ‘क्रूर-तंत्र’ राजनैतिक, सामाजिक, ँ-1ाक्तिगत की सीमाओं को तोड़ किसी भी तरह के समूचे तंत्र के मनोविज्ञान को प्रश्न के घेरे में ले आता है। इस तंत्र के विरोध का दुःसाहस उसे ‘अदालतों के चक्कर लगवा सकता है जहाँ– ‘नहीं सहने की आदत/उसका असली अपराध है’।

इस दुःसाहस के विरूद्ध का-1राना हकीकतों को भी रेखांकित करते हुए ‘आत्मरक्षा’ के भ-1 को सामने ला-1ा ग-1ा है– “दाढ़ काटने वाले दाँत, स्वर्णदंत/एक-एक करके जब छोड़ जाते हैं साथ/दाँत पीसने की घड़ि-गों को –1ाद करते हुए/पोपले मुँह को आता है समझ में/बर्बरता के पक्ष में हुआ है/इनका कितना इस्तेमाल।”

कवि की दृष्टि जीवन को बेधते हुए, उससे एकात्म हो गुजरते, उसके अनुभवों का आनंद लेते हुए मर्म को अपनी ल-1 में एकसार कर पिरो ले जाती है। इसे नैसर्गिक का-1ा-भंगिमा कहें –1ा चतुराई कि कवि बड़े भोलेपन से ‘तरफदारी ऐसे लोगों की’ कर जाता है जो बुरा कहलाते हुए भी भीतर के मनुष-1 को जिलाए रखते हैं और न चाहते हुए भी उनकी मनुष-1ता का चुंबक कवि के भीतर के ‘मनुष-1’ को खींच लेता है।

कवि का किसी वैचारिकता के आंतक से ग्रस्त न होना –1हाँ कविता को बचा ले जाता है। उसका ‘मनुष-1’ से जुड़ाव एक बड़ा संकेत है और –1ह दृष्टि भी का-1ा-संवेदना पर हावी नहीं होती। जीवन-जगत के रूपक में अन्तर्ग्रथित वह बिना अति आग्रह के चेतना में जगह बना लेती है। इसलिए –1ह का-1ा-तेवर आस्वादक के साथ अन्तर्ल-1 होते हुए सहजबोध को जिलाए रखता है, जिसके बूते ‘मन्नुभाई पर कविता’ जैसी रचना संभव हो पाती है, जहाँ कविता भी अपनी कविताई से मुक्त होने को छटपटाती है–

“कविता की सरहद से बाहर खड़े व-क्ति पर/अगर लिखनी हो कविता/तो आप कविता की कुदरत को कैसे बचाएँगे/ हालाँकि सरहदें कुदरती नहीं होती/और इस नज़रिए से/ कविता भी कुदरती चीज़ नहीं।”

जो कविता स्व-ि मुक्त हो रही हो वह अर्थ को भी मुक्त कर आस्वादक को उसी का अर्थ सौंप देने को तै-ार रहती हैं। अर्थ से मुक्ति की कविताएँ इधर लंबे सम-ा से मौन थीं, -ो कविताएँ इसकी दस्तक हैं, जिसमें कवि भी अपने सृजन-धर्म से, अर्थ पकड़ने की अथक -ात्रा से मुक्त होता है। मुक्ति के चरम पर पहुँचने वाली कविताएँ चूँकि जीवन से उठती हैं इसलिए जीवन में जाकर खुलती-ठहरती भी हैं। इसलिए ‘मन्नूभाई’ के प्रेम संदेशों का ‘प्रेत लिखने’ वाला कवि अनजाने ही जीवन की जीवंतता स्वीकार लेता है जब कहता है- “लेकिन -ह भी सच है कि लिखते हुए उन्हें/मेरी चेतना से परे/कविता-रूपी बीज की/खुल रही थी आँख।”

जिस जमीन से कविता के बीज अंकुरित हो, अपना वही आदिम बीजपन लिए वह फिर-फिर उसी जमीन पर आ बसे- -ाही तो काव-ा की असल -ात्रा है। ऐसी कविता के बीज की नैसर्गिक आदिम गंध काव-ाशास्त्र को, वैचारिकता को तुष्ट करने में कितनी सक्षम है, इससे बड़ी बात है उसे ग्रहण कर अपने तिक्त सम-ा में कुछ तृप्त क्षण पा लेना- -ो इसी संदर्भ की कविताएँ हैं। इस दृष्टि से ये शुद्ध अन्तर्बोध की कविताएँ हैं जो अन्तः संगीत को बेध कर जगाती हैं। एक बात और, कविता की कसावट आलोचकी-ा चेष्टा के सजग हस्तक्षेप की ओर संकेत करती है। इसमें बुरा भी व-ा है? किन्तु हाँ ‘सा-ास’ के संतोष के बरक्स ‘अना-ास’ का स्वतःस्फूर्त आवेगात्मक सुख -हाँ नहीं मिलता। हाँ, -हाँ कविताएँ एक सी शिल्प संरचना में प्रस्तुत नहीं होती। विष-ा की तरंगें स्वच्छंद हो अपना रूप गढ़ती हैं।

कितनी खूबसूरत बात है कि कोई कवि ‘.....उस आदमी पर कविता’ लिखना चाहे जो अपने दैनंदिन में इस तरह खो ग-ा है कि उसी के अंतरालों में छिपे सुंदर और अद्भुत क्षण उसे नहीं दिखते। ऐसी कविता ही तो व-क्ति को जड़बद्ध जीवन से मुक्त करती है और ऐसी कविता के ही बहाने वह अपने आस-पास बिखरे ‘जीवंत’ को पकड़

पाता है। कविता केवल एक बेहतरीन भाषा, रूपक, मिथक -ा शिल्प भर नहीं है। वह जीवन से चलकर जीवन में फिर न उतरे, उसे मौंजे नहीं, उसे क्षण के सौन्द-ि का दर्शन न करा पाए तो वह कविता व-ा? ‘मोक्षधरा’ की कविताओं का जीवन में लौटना उन्हें सशक्त बनाता है। जीवन में उतर अपना काव-ाशास्त्र खुद रचती कविताएँ कविता की ताकत में भरोसा जगाती हैं। कवि की बेचैन खोज में पाठक भी साथ निकल पड़ता है। ‘कुरुद’ कस्बे के किफा-ाती मिज़ाज में निहित जीवन-संघर्ष को वह इस तरह रूबरू कराता है कि पाठक एक लंबी कविता के अंत तक पहुँचने से पूर्व बीच में ठहरी इन पंक्ति-ों में ठहर जाता है- “हिरदा बाई मेरी रसोई बनाती थी/जाते वक्त नहीं भूलती थी/उबली हुई चा-पत्ती ले जाना/घर जाकर उसे सुखाती और बनाती थी चा-ा/हिरदा परित-िक्ता थी/ परित-ाग की ग-ी वस्तुओं के विचार से/उसने समझौता कर लि-ा था।”

‘मोक्षधरा’ की कविताएँ जीवन-जगत के विद्रूप, लोक संवेदना, स्मृति -ात्रा से गुज़रते हुए इसी तरह मर्म का मौन स्पर्श करती हैं। जीवन के विविध रंगों को समेटती -ो कविताएँ पाठक को स-ाह-सफेद से भी भली-भाँति परिचित करा देती हैं। अच्छी बात -ह है कि कवि का आलोचक पक्ष अपना काम सफाई से कर परे खड़ा हो कविता से मुक्त हो जाता है। इसलिए -हाँ कविताएँ स्व-ि संवाद करती हैं। उसकी सघन बुनावट, उसका रचाव उस पर हावी नहीं होता। एक आलोचक का कविता पर -ह विश्वास कविता को कविता होने की छूट देता है। -ह बात जितनी ‘हमारी पहली कविता है’-जो अपनी ऐतिहासिकता के साथ वर्तमान को भी छूती है- पर लागू होती है उतनी ही ‘प्रेम पर कुछ पंक्ति-ाँ’ पर भी। -ो कविताएँ एक ही लीक पर चल रही कविता के मिज़ाज से अलग हैं, -हाँ चालू मुहावरा नहीं है। -हाँ आक्रोश-ुक्त कृत्रिम काव-ारूप, आंचलिकता का व-ामोह नहीं है। -ह गढ़ी ग-ी कविता नहीं है, -हाँ रूप की मौलिकता है जो विविध विष-ों को नवीनता के साथ स्पर्श करती है। कवि की प्रतिबद्धता भी कविता के प्रति है जो संसार में ‘क्रूरता’ नहीं ‘सुंदरता’ देखने की आकांक्षी है। कठिन सम-ा में उसकी इच्छा



स्पष्ट है- “-ह दुनि-ग देखने के लिए बनी है/और -ह एक ऐसा सम-ग है गंभीरता से सोचने का/दुनि-ग को नष्ट करने के लिए जो कुछ बना-ग जाता है/काश! वह भी सिर्फ देखने के लिए बना होता।”

इस जटिल सम-ग में सभी प्रकार की नारेबाजी से बाज आते हुए ‘मनुष्य-ग’ होने की चेष्टा को तराशते रहना ही वह मूल-ग है जिसे पकड़ने की चेष्टा कविता कर सकती है। कवि का प्र-गस इसी ओर है। सामान्य जीवन-जगत में जो ‘विशिष्ट’ घट रहा है, उसे वह पकड़ता है। उसकी कला-ग्रात्रा का असली रसास्वादन ‘साँची’ जैसी कविता कराती है, तो ‘तीस जनवरी’, ‘स्वप्न कविता’ ‘आदत के बारे में कविता-‘सरल’ के भीतर की ‘जटिलता’ का स्पर्श करती कविताएँ हैं। -हाँ तक आते-आते वह अपनी ‘जटिलता’ से जूझता दिखता और फिर उसी में ठहर सा जाता है। उसे ‘जटिलता’ से मुक्ति ‘मोक्षधरा’ कविता के सृजन में मिलती हैं। -हाँ तक की -ग्रात्रा उसे -ह बोध करा देती है- ‘देह एक अनुभव है और अनुभव की मुक्ति देह के मुक्त हो जाने के बाद भी नहीं होती।’- ‘‘पितर/हमारी देह में/देहमुक्त अनुभव हैं/हमारी देह में/देहमुक्त देह हैं।’’

-हाँ आकर कवि की काव्य-ग्रात्रा जटिलता की अपनी तहें खोलती है और जीवन के ‘सरल’ को, ‘सामान्य-ग’ को पकड़ने की चेष्टा करती है। इस कविता से गुजरना कवि की अन्त-ग्रात्रा से गुजरना है। कवि अपनी अन्त-ग्रात्रा से पौराणिक मिथक तक पहुँचता है और उसकी -ग्रात्रा स्व-ग एक जीवन का मिथक गढ़ने लगती है। ‘मोक्षधरा’ कविता की बुनावट के ताने-बाने में कवि जीवन के भीतर छिपी मृत्यु को, सम-ग के गद्य में निहित छंद को, विस्मृत गांधी को, स्मृति को, वर्तमान को ‘अपनी ही देह के/संकरे रास्तों से गुजरता’ पाता है। अपने शिल्प, छंद, ल-ग, भाषा के भीतर प्रविष्ट कर न-गी भाषा गढ़ने की क्षमता के साथ-साथ मन और जीवन, मृत्यु और मोक्ष की गुफा की -ग्रात्रा, रूहानी-तौर से मर्म को स्पर्श करने की कवि दृष्टि- इस कविता का मजबूत पक्ष है। -ह कविता इस संग्रह की सबसे सशक्त कविता है जो अपने तिलिस्म में सहृद-ग पाठक को बाँध लेती है। -ह अपनी रचना प्रक्रि-ग में गद्य में काव्य और काव्य में गद्य के छंद को पकड़ने का भी

सुंदर उदाहरण है।

“एक बूढ़ा साँड़ गली में जमकर बैठा था। भोग से अन्ततः थका था। भ-ग नहीं बचा था। भागना अब कहाँ था। उसकी बगल से मैं ही भाग के निकला। मोक्ष अगर जीवित का-ग में दिखे -ही होता है।- ‘‘का-ग का अर्थ/भोग है/भागना है/भ-ग है।’’

जीवन में प्राप्त-अप्राप्त की भी लंबी शृंखला है- ‘अक्ष-वट’ होने का, उससे माँगने का, ‘मैं’ और ‘हम’ का, कवि की ज़िद का, ‘व-क्ति’ के भीतर ‘मनुष्य-ग’ बने रहने की तलब का, स्वीकार और अस्वीकार का। किन्तु अन्ततः -ह कविता ‘सकार’ को ‘रेत के नीचे छिपे पानी’ के रूप में खोज ही लेती है। -ही जीवन में काव्य-विचार का पुनः लौटना है- ‘‘सब कहानी है, मगर/फल्गु में रेत के नीचे/पानी है।’’

‘मोक्षधरा’ मनुष्य-ग जीवन में इसी पानी को पा लेने की संभावना पर भरोसे की कविता है। इस रचना प्रक्रि-ग में कवि ध्वंस, नकार से जूझता हुआ भी पानी की तलाश कर जीवन की ल-ग के प्रति सकार भाव प्राप्त करता दिखता है। इसी कारण -हाँ कविता दिखती कविताएँ नहीं, कविता का संभव होना दर्शाती कविताएँ हैं। कम-अज्ञ-कम हम ‘मोक्षधरा’ की इन कविताओं के बहाने कविता से प्रेम करते रह सकते हैं- क्योंकि -गे ‘कविता का अंत’ जैसे जुमलों के नकार का उद्घोष करती हैं। कवि की अपनी तरह की भाषा है, अपने तरह के रूपक जो गढ़े हुए नहीं, गूँथे हुए हैं अनूठी आभा लिए अनिवा-ग होकर। भाषा में रूढ़ हो गए शब्दों को न-ग अर्थ, न-गी चमक देकर उसकी जड़बद्धता को भी -हाँ तोड़ा ग-ग है। उसकी चिंताएँ भी गढ़ी हुई, लादी ग-गी कृत्रिम नहीं हैं, वहाँ विसंगत की सीधे घोषणा है- ‘छल का कोई विकल्प नहीं होगा।’- ‘‘न पानी न नमक/न कोई ईश्वर/कुछ -नहीं होगा शुद्ध कि सत्-ग/न न-गार न कोई विचार/नमक और पानी का भी अर्थ/माना जाएगा छल।’’

इन कविताओं के भीतर प्रवेश करना एक बीहड़ की -ग्रात्रा करना है। ‘मैं खो ग-ग वस्तुओं को खोजता हुआ’ -ग ‘बारिश में बूँदों की तरह’ को पढ़ना एक ऐसी अनुभव -ग्रात्रा है, जिसमें पाठक एक बाल-बोध की स्मृति में पहुँच

जाता है। मानो वह तेज चाल चलते पिता की उंगली की पकड़ से बार-बार छूट रहा है। उस पुत्र की बेचैनी, पिता की उंगली पकड़े रखने की सतत् चेष्टा पाठक के भीतर पुनः अपनी-आत्मा दोहराती है। कवि के सान्द्र-सघन विचारों में डूबता-उतरता पाठक एक अनुभूति से अभिभूत हो स्व-अंग कवि की उंगली मजबूती से थाम आत्मसंघर्ष द्वारा 'अपनी आत्मा की पॉलिश' करने लगता है। कविता द्वारा इतनी सघन-आत्मा में उसे थामे रखना, विचार और मर्म की कई तहों में प्रवेश कर जाना है। इस विचार-आत्मा की 'किरिच' पाठक को भी बेधती है।-हाँ भाषा भी खुद को बार-बार तोड़ती है और फिर-फिर गढ़ती है, तब ही इस तरह की निर्दोष काव्य-संवेदना आकार ले पाती है। जीवन और मनुष्य के, विचार और फिर विचार के इस पाषाणी-आवरण को सशक्त भाषा अन्ततः धराशा-नी भी करती है। संग्रह की अंतिम कुछ लंबी कविताएँ तो धागे का जटिल उलझा गुच्छा हैं। पाठक सिरा पकड़ता है, बार-बार उसके तिलिस्म में प्रवेश करता है, छिटका जाता है। इस संघर्ष में वह कवि के संघर्ष को पकड़ता, फिर उसे थामता हुआ आनंद की गहरी अनुभूति भी पाता है। अपने दूसरे काव्य संग्रह की इन कविताओं में कवि ने अनुभूति की सहजता को पकड़ने का प्रयास किया है इसलिए उसकी कमी तो-हाँ नहीं खलती किन्तु अनुभूति का निर्द्वन्द्व प्रवाह अभी भी-हाँ बाधित है। संभवतः इसका कारण वह 'कठिनता' है जो कवि का परिचय बन चुकी है।

पाषाण, पुरुष और विचार की कठोरता-शुष्कता 'संसार का सबसे बड़ा जंगल' है, 'पुरुष प्रतीक था' कविता जिसके द्वार खोलती है।-ह कविता 'कठोर' की कठिन-आत्मा का तटस्थ आत्म-परीक्षण है, अन्तर्द्वन्द्व है।-ह 'मोक्षधरा' के समान ही कसी हुई कविता है और पुरुष-विचार के सामाजिक-ऐतिहासिक अस्तित्व को सामने लाने का प्रयास करती है जिसे सामान्यतः कवि-गो ने भी 'देखा जाना कभी पसंद नहीं किया'। किन्तु-ह कविता पुरुष निर्मित पुरुष छवि से सीधा संघर्ष करती है। पुरुष तथाकथित 'मर्दवादी'

विचार का प्रतिरूप है, -ह कविता उस विचार की तोड़ है, जो स्व-अंग द्वारा गढ़ी ग-नी प्रतिमा को स्व-अंग अनावृत्त करती है। इस तरह-ह सीमोन की 'द सेकेण्ड सेक्स' के विचार का कविता में विलोम गढ़ती कविता है। हिन्दी में स्त्री पर लिखी ग-नी कविताओं की भरमार है जो पुरुषवादी-आ स्त्रीवादी नज़रिए का परिणाम है। तटस्थ हो लैंगिक दृष्टि से 'कविता में सेकुलर' का न-आ प्रतिमान बनाती-ह एक पुरुष के भीतर पैठे कवि की बेहद ईमानदार रचना है।

-ह संग्रह उस वर्ष में प्रकाश में आ-आ है, जो मुक्तिबोध के देहावसान की अर्द्धशती भी है। मुक्तिबोध वह कवि थे जिनकी वा-क्ति चेतना, कवि चेतना से विलग नहीं थी। कविता का द्वन्द्व और नैतिक बोध उनके जीवन में भी था। 'मोक्षधरा' सहित हिन्दी का वर्तमान कवि जगत इस द्वैत के संघर्ष में कहाँ खड़ा है, -ह प्रश्न प्रत्येक कवि की आत्मचेतना का प्रश्न है। कोई भी कवि मनुष्य-आत्मा के प्रति अपने दायित्व बोध से बच नहीं सकता।-ह द्वन्द्व उसकी कविता के साथ निजी जीवन में कितना है, इसी से कविता में संघर्ष का सौन्दर्य रूप ग्रहण करता है। इस सौन्दर्य की कमी ने पाठक को हिन्दी कविता से दूर भी किया है, इसलिए-ने किसी कविता के बड़े होने की आवश्यकता भी है। 'मोक्षधरा' का कवि भी इस प्रश्न के घेरे में रहेगा।

बहरहाल, 'मोक्षधरा' की कविताएँ वह 'पारपुल' है जहाँ से गुजरकर पाठक को जीवन की ऊब से मुक्ति मिलती है। हम कई बार वृहत उपन्यास-आ कहानि-गँ पढ़कर जिस सूक्ष्म अनुभूति के शिखर का स्पर्श नहीं कर पाते, कविता की छोटी सी पंक्ति भी हमें वह आनंद-आत्मा करा देती है। 'मोक्षधरा' की कविताएँ इसका सटीक उदाहरण हैं।

**मोक्षधरा :** (काव्य संग्रह), मूल्य : 300/-

**कवि :** सुधीर रंजन सिंह

राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002

**संपर्क:** पता- जी-03, फॉर्चून ग्लोरी एक्सटेंशन, ई-8 एक्सटेंशन, बावड़ि-आ कलाँ, भोपाल-462039

**मो. 09425010223**

## ‘यूँ ही’ अशोक अंजुम का ग़ज़ल संग्रह

डॉ. शिव ओम अम्बर

समकालीन हिन्दी ग़ज़ल की लोकप्रिय सृजनधर्मी संज्ञाओं में अशोक अंजुम की संज्ञा एक विश्रुत संज्ञा है। समय-समय पर उनके ग़ज़ल संग्रह प्रकाशित होते रहे हैं और उनकी अविराम साहित्य-साधना का साक्ष्य देते रहे हैं। उनके नव्यतम ग़ज़ल संग्रह का शीर्षक है- ‘यूँ ही’। इस शीर्षक को इसी संग्रह में उपस्थित उनकी एक विशिष्ट ग़ज़ल से लिया गया है जिसके सभी अशआर अत्यधिक व्यंजक हैं। प्रारंभिक पंक्तियाँ हैं-

लोग देते रहे दुआ यूँ ही/ कारवां फिर भी लुट गया यूँ ही।

प्रायः अजीजों से अनुरोध किया जाता है कि हमारे हक में दुआएँ करो क्योंकि सच्ची दुआएँ कामयाब होती हैं, जीवन के जटिल संघर्ष-पथ पर संचरण करने वालों के लिए वे रक्षा-कवच बन जाती हैं। प्रस्तुत ग़ज़ल में कवि एक निःश्वास भरकर समय की खोखली औपचारिकता पर प्रहार करते हुए कहता है कि संचरणशील समूह के सभी सदस्यों को दुआएँ तो भरपूर दी गईं किन्तु निश्चित रूप से वे सामाजिक लोकाचार का निर्वहन मात्र थीं, हार्दिकता की ऊष्मा से आपूरित अभिव्यंजनाएँ नहीं थीं, अतः ‘यूँ ही’ कर्मकाण्ड की रीतियाँ परिपूर्ण होती रहीं और विपत्तियाँ सहज भाव से आती रहीं, उन्हें निर्ममतापूर्वक लूटा जाता रहा। ग़ज़ल में कवि के द्वारा चुनी गई रदीफ़ ‘यूँ ही’ हर शेर के साथ अवसाद-बोध को गहरा करती जाती है और फिर विविध आयामों से जीवन की निस्संग क्रूरता को निरूपित करती है। जैसे-

तेरी यादें थी और तनहाई/ चाँद देता रहा सदा यूँ ही।

कवि अपने प्रेमास्पद की स्मृतियों को जीते हुए उसकी अनुपस्थिति के दंश और अपनी एकाकी नियति का अनुभव कर रहा है। उधर आकाश में चन्द्रमा संचरणशील है और शायद अपनी किरणों के माध्यम से उस तक कोई संदेश पहुँचा रहा है, शायद उसे पुकार लगा रहा है किन्तु अपनी अन्यमनस्कता में कवि प्रकृति के बिम्बों के साथ एकात्मकता स्थापित नहीं कर पाता और उसे लगता है कि चन्द्रमा अगर आवाज़ लगा भी रहा है तो भी किसी विशेष भाव से भरकर नहीं, उसके प्रति अतिरिक्त संवेदनशील होकर नहीं अपितु बस, यूँ ही।

बात आगे बढ़ती है और कवि को प्रेमास्पद के विश्वासघात व्यवहार का स्मरण हो जाता है। उसने जिस पर विश्वास करके जिसे अपनी ज़िन्दगी की वजह, अपने जीवन की अर्थवत्ता के रूप में देखा था वह उसे पूर्णतः उपेक्षित कर आगे बढ़ गया, बिना किसी उचित कारण के- ‘यूँ ही’।

तुम पे विश्वास करके जीते थे/ हो गये तुम भी बेवफा यूँ ही।

कवि के साथ बेवफ़ाई अन्यो ने भी की है किन्तु उसे भारी मलाल इस बात का है कि उसके विश्वास का केन्द्र उसका प्रेमास्पद भी तमाम जागतिक मित्रों की तरह हृदयाघाती व्यवहार कर बैठा! उसने इस बात का विचार ही नहीं किया कि उसके एक अनपेक्षित कठोर निर्णय से किसी संवेदनशील इंसान का एक इन्द्रधनुषी विश्व उजड़ जाएगा-

एक दुनिया उजड़ गई पल में/ कर दिया तुमने फैसला यूँ ही।

इस ग़ज़ल की अंतिम पंक्तियाँ अल्हड़ प्रेमास्पद की उस मारक, मादक भंगिमा का शब्द-चित्र अंकित करती हैं जिसे अपना कोई अपराध, अपराध लगता ही नहीं है-

मैंने पूछा कि क्यों नहीं आये?/ उसने मुस्का के कह दिया ‘यूँ ही’।

एक समय-सचेत कवि की भूमिका निभाते हुए अशोक अंजुम ने ऐसे अनेक अशआर कहे हैं जो हमारे दैनन्दिन जीवन में परिव्याप्त आत्मकेन्द्रित मानसिकता और उधर, समाज में दिनों दिन वृद्धि को प्राप्त होती व्यावसायिकता के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं-

रात आधी देखते टी.वी. रहे फिर सो गये/ कल पड़ोसी लुट गया अखबार से मालूम हुआ।/ कर दिया बाज़ार ने गमगीन कितना क्या कहें/ जिन्दगी यूँ तलख है बाज़ार से मालूम हुआ।

सर्वत्र गहराती नकारात्मकता के बीच कवि की अमृत-संधानी दृष्टि एकसी स्वस्तिकर सकारात्मकता भी पा ही लेती है जो मावस की देहरी पर ज्योतिशिखा की रूपक रच सके-

डूबती उम्मीद को फिर रोशनाई दे रहा है/ वो पिता के हाथ में पहली कमाई दे रहा है।/ एक बूढ़े जिस्म से लाखों दुआएँ झर रही हैं/ एक नन्हा हाथ मुसकाकर दवाई दे रहा है।

उपर्युक्त पंक्तियों के सम्यक् अनुभावन के लिये हमें कवि की भावप्रवण दृष्टि के साथ सम्बद्ध होकर उपस्थित बिम्बों में गहरे उतरना होगा। यहाँ पिता के हाथ में पहली कमाई देने वाला बेटा उसकी डूबती आशाओं के लिए एक नई राहत, एक अभिनव उमंग बनकर आया है। जैसे किसी कोरे कागज़ पर कोई रोशनाई से आश्वस्ति-वचन लिख दे, कोई सिद्ध-मंत्र अंकित कर दे, वैसे ही यह पहली कमाई है। बाप का हाथ कागज़ है और कमाई उस कागज़ पर रोशनी की स्वर्णिम रोशनाई से अंकित स्वस्ति है। इस प्रकार दुआएँ परमसत्ता से की गई प्रार्थनाएँ हैं, कल्याण-कामनाएँ हैं। बच्चे का हाथ बचपन की निश्छल स्मिति का हाथ है और भाव-गद्गद् बुजुर्ग की वाणी मूर्तिमती प्रार्थना है। यहाँ दुआएँ आशीषों की तरह व्यक्तित्व रूपी विच्छुरित हो रही हैं। चाक्षुश बिम्बों की यह बड़ी ही कलात्मक प्रस्तुति है।

अशोक अंजुम की अभिव्यक्ति की एक बहुत बड़ी विशेषता, उसकी सरलता है। उनकी भाषा आम आदमी के दैनन्दिन व्यवहार की भाषा है। वह स्वाभाविक और सहज रूप से बोलचाल में आने वाले शब्दों को कविता की काया प्रदान कर देते हैं। कितनी सादा जुबान में दी गई चुनौती है-

आइने से नज़र मिला तो सही/ मुझसे मत पूछो बेवफ़ा है कौन।

तथा कितनी सरलता से शब्दायित दार्शनिकता है-

ज़रा-सी बीज था कल तक वो अब आकाश छूता है/ बना दे बूँद को सागर रखे क्या-क्या हुनर मिट्टी।/ ज़रूरी है कि खुलते भी रहें खिड़की-ओ-दरवाज़े/ वगरना हो न जाये एक दिन तेरा ये घर मिट्टी।

यहाँ कवि के शब्द-संसार में साधिकार उपस्थिति दर्ज करवाता हुआ आइना भी है, आकाश भी। बीज-हुनर-मिट्टी-बूँद-सागर आदि सभी एक विस्मृत कुटुम्ब के सदस्यों की तरह भाषा की एक ही बड़ी हवेली में निवास करते हैं। अशोक अंजुम इसी कारण जन-सामान्य और प्रबुद्ध जन दोनों में ही लोकप्रिय और सम्मानित हैं।

सामाजिक मानसिकता के निरन्तर नव्यता के आग्रह के प्रति वह जागरूक हैं और साहित्य के परिक्षेत्र में विधा के व्याकरणवेत्ता आचार्यों के प्रति थोड़ा विक्षुब्ध। उनकी स्पष्ट घोषणा है कि उन्होंने हमेशा अपना ध्यान कथ्य से जोड़कर रखा है, उनका इशारा है कि भावोन्मेष में यदि किसी व्याकरणिक नियम की अवहेलना हुई भी है तो उन्होंने उसको ज़रूरत से ज़्यादा तवज्जो नहीं दी है जबकि आचार्यगण अपनी सारी बौद्धिक क्षमता कलात्मक दृष्टि से विधा की नोक-पलक सँवारने में ही व्यतीत करते रहते हैं-

कहाँ तक डरोगे कहाँ तक बचोगे/ ये दुनिया है दुनिया खबर ढूँढ़ती है।/ कहन पर मेरा ज़ोर रहा है यूँ ही/ तुम्हारी गज़ल बस बहर ढूँढ़ती है।

‘यूँ ही’ के अन्तर्गत अशोक अंजुम के कुछ मुक्तक/ कृतआत भी ‘किरचें अहसास की’ शीर्षक से संकलित हैं। जीवन की विविधवर्णी मुद्राओं पर, परिपार्श्व की घटनाओं-परिघटनाओं पर ये मुक्तक बेबाक टिप्पणियाँ प्रस्तुत करते हैं। उनमें एक जागरूक नागरिक की अंगारक प्रतिक्रियाएँ भी हैं और एक अनुरागप्रवण अन्तस् की सुकोमल उद्भावनाएँ भी। दोनों ही तरह के मुक्तकों के (एक-एक) उदाहरण प्रस्तुत हैं-

नहीं दिखती दिशा कोई कहाँ जाए, किधर जाए/ ये तुलसी को हटाकर नागफनियाँ बो रही है अब/ न ये कर्तव्य को समझे न इसको देश की चिंता/ जवानी सेक्स की रंगीनियों में खो रही है अब।

तथा-

सारे रंगीन नज़ारों की चमक जाती रही/ चाँद के आगे  
सितारों की चमक जाती रही/ तुम न आये थे यहाँ जुगनुओं  
का चर्चा था/ तुम जो आये तो हज़ारों की चमक जाती रही।

अशोक अंजुम की स्वप्निल दृष्टि से इस देश को हर  
तरह से समृद्ध और परिवेश को सांस्कृतिक श्री से समन्वित  
देखना चाहती है। उसे पाश्चात्य जीवन-दर्शन से प्रभावित  
वह व्यवहार बेहद चुभता है जिसमें पिता-पुत्र किसी उत्सव  
में एक साथ आसव-आचमन करते हैं और अपनी तथाकथित  
प्रगतिशीलता पर गर्व करते हैं। वह चाहते हैं कि वादो-  
विवादों और प्रतिवादों के इस दौर में हार्दिक संवाद का  
क्रम जारी रहे और लोग अपने को एक-दूसरे के करीब  
महसूस करें। उन्हें इस संसार में ही परमात्म सत्ता की  
प्रकाशमयता का दर्शन उस मासूम बच्चे में होता है तो  
अपनी माँ की दवा लाने के लिये अपनी गुल्लक फोड़ देता

है और वह बड़ी शिद्दत से यह भी महसूस करते हैं कि  
सफर की कड़ी धूप भी माँ की शुभाशीष का संस्पर्श पाकर  
सौम्य और शीतल बन जाती है। ऐसा भाव व्यक्त करने वाले  
उनके ये अशआर देकर उनकी समर्थ लेखनी का अभिनन्दन  
करते हुए इस संक्षिप्त टिप्पणी को विराम देता हूँ-

ये बच्चा क्या ही बच्चा है खुदा का नूर पाया है/ जो  
गुल्लक तोड़कर अपनी दवाई माँ की लाया है।/ सफर में  
धूप कितनी हो मगर रहती है ठंडक-सी/ सफर में साथ मेरे  
माँ के आशीषों का साया है।

यूँ ही : (गज़ल संग्रह), मूल्य : 150/-

गज़लकार : अशोक अंजुम

संवेदना प्रकाशन, चन्द्रविहार कॉलोनी (नगला डालचन्द)  
क्वारसी बाय पास, अलीगढ़- 202001

संपर्क : 4/10, नुनहाई, फर्रुखाबाद (उ.प्र.) मो. 09415333059

### ‘मुक्तचल’ प्राप्ति स्थान

आनंद प्रकाशन : 176/178, रवीन्द्र सारणी, कोलकाता- 700007

मानव प्रकाशन : 131, चितरंजन एवेन्यू, कोलकाता- 700073

मोहन बुक एजेंसी : 2, डेकर्स लेन, कोलकाता-700069

ओम न्यूज एजेंसी : रंगमहल टाकीज के सामने, न्यू मार्केट भोपाल

श्री सुमन कुमार : प्रगतिशील पुस्तक भंडार, इलाहाबाद बैंक के सामने,  
अशोक राजपथ, पटना-800004

पुस्तकालय : सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय (राम मंदिर), कोलकाता

हेम बुक सेंटर : जे.एन.यू. दिल्ली

मौर्या बुक स्टाल : लंका, वाराणसी

परिदृश्य प्रकाशन : 1, अनमोल बिल्डिंग, शोहराबजी, सांतुक लेन,  
धोबी तालाब, मरीन लाइन, ईस्ट मुंबई- 400002

ज्ञानदीप : नियर फिरारालाल, एच.बी. रोड, राँची-834001

## गतिविधियाँ

### ‘साहित्य में उत्तर-आधुनिकतावाद’ पर राष्ट्रीय संगोष्ठी

डिगबोई महिला महाविद्यालय (तिनसुकिया असम) में गत दिनों 10 एवं 11 फरवरी 2015 को विश्व विद्यालय अनुदान आयोग द्वारा अनुदानित दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में ‘साहित्य में उत्तर-आधुनिकतावाद’ पर गहन विचार-विमर्श हुआ। इस संगोष्ठी के समन्वयक थे साहित्यकार एवं समीक्षक डॉ. हरेराम पाठक।

संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र में प्रवर्तन करते हुए राजस्थान विश्वविद्यालय के सेवा निवृत्त प्रोफेसर (डॉ.) रवि श्रीवास्तव ने उत्तर आधुनिकता की मूल प्रकृति पर अपना गंभीर व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए बताया कि उत्तर आधुनिकता ने किस प्रकार हमारे समाज, साहित्य, राजनीति एवं अर्थनीति को प्रभावित कर रखा है, यह आज स्पष्टतः दिखाई दे रहा है, परंतु इसने हमारी पारंपरिक धरोहर अथवा संस्कृति को जिस धीमी परंतु प्रभावशाली गति से क्षतिग्रस्त करना शुरू किया है वह स्पष्टतः दिखाई नहीं दे रहा है। ऐसे संक्रमण काल में हमें ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया को सचेत रहने की आवश्यकता है।

उद्घाटन सत्र के बाद प्रथम तकनीकी सत्र की अध्यक्ष थीं जीजस एण्ड मेरी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली की सेवा निवृत्त सह आचार्य डॉ. कमल कुमार एवं मुख्य वक्ता थे विश्व भारती शांति निकेतन के प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी। इस सत्र में डॉ. अर्चना पांडेय, खिदिरपुर कॉलेज, सुनील कुमार साव, लाल बाबा कॉलेज, कोलकाता एवं राकेश रंजन (नगांव, असम) ने अपने-अपने शोध पत्र पढ़े। डॉ. अर्चना पांडेय ने ‘उत्तर-आधुनिकतावाद: सैद्धांतिकी एवं विचारधारात्मक अवधारणा’ ने अपने शोध पत्र में उत्तर आधुनिकतावाद के चुनौतीपूर्ण सिद्धांतों एवं उसके चिंतन के बहुकोणीय पक्षों पर पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दार्शनिक अवधारणाओं के प्रभाव का सम्यक विवरण प्रस्तुत किया। सुनील कुमार साव ने ‘कथाकार संजीव के साहित्य में उत्तर आधुनिक बाजार व्यवस्था’ पर अपना शोध पत्र प्रस्तुत किया। इस शोध पत्र में उन्होंने बाजार के घातक परिणामों की ओर संकेत किया। राकेश रंजन ने “उत्तर आधुनिकता और मनोहर श्याम जोशी के उपन्यास” विषयक शोधलेख में उत्तर आधुनिकता के व्यावहारिक पक्ष पर अपना विचार प्रस्तुत किया। इस सत्र के मुख्य वक्ता प्रो. मुक्तेश्वर तिवारी के उत्तर संरचनावाद पर अपना सारगर्भित व्याख्यान प्रस्तुत किया।

दूसरे दिन 11 फरवरी को दूसरे सत्र की अध्यक्षता प्रो. रवि श्रीवास्तव ने की तथा मुख्य वक्ता डॉ. कमल कुमार रहीं। उन्होंने “उत्तर आधुनिकता एवं मीडिया संस्कृति उद्योग” पर व्यावहारिक व्याख्यान प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि उत्तर-आधुनिक दौर में मीडिया संचार का एक माध्यम मात्र न होकर एक उद्योग के रूप में स्थापित हो चुका है।

डिगबोई महिला महाविद्यालय की प्राचार्य डॉ. मिताली कुंवर ने विदाई समारोह में पुनः आगंतुक विद्वानों का आभार व्यक्त करते हुए उन्हें धन्यवाद ज्ञापित किया। **प्रस्तुति : डॉ. हरेराम पाठक, हिंदी विभाग, डिगबोई महिला महाविद्यालय,**

### ‘नारायणी साहित्य अकादमी’ द्वारा काव्य-पाठ आयोजन

“नारायणी साहित्य अकादमी” की पूर्वोत्तर शाखा की तिनसुकिया (असम) इकाई द्वारा गत 22 फरवरी 2015 को अरुणाचल के नामसाई जिलान्तर्गत मुद्दई बाड़ी में नई दिहिंग नदी के पावन तट पर एक काव्य गोष्ठी का आयोजन किया गया। यह आयोजन उक्त संस्था की तिनसुकिया जिला अध्यक्ष श्रीमती निशा गुप्ता की अध्यक्षता में संपन्न हुआ जिसमें पूर्वोत्तर की प्रभारी अध्यक्ष श्रीमती दीपिका सुतोदिया भी मौजूद रहीं। मुद्दई बाड़ी चाय बागान के स्वामी श्री एल एन गुप्ता ने इस काव्य गोष्ठी का विशेष रूप से आयोजन कराया था।

संगोष्ठी में तिनसुकिया इकाई की अध्यक्ष निशा गुप्ता, उपाध्यक्ष सुनीता अग्रवाल, दीपिका सुतोदिया, डॉ. हरेराम पाठक, संजय त्रिवेदी, राम प्रसाद दुबे, श्याम जी पारीक आदि अपने रोचक पाठ किये तथा संजय त्रिवेदी ने काव्य गोष्ठी का संचालन किया। संजय त्रिवेदी ने सभी कवियों एवं कवयित्रियों का काव्यमय परिचय देकर कार्यक्रम का शुभारंभ किया। काव्य-पाठ के बाद श्री एल.एन. गुप्ता एवं निशा गुप्ता तथा संजय त्रिवेदी एवं लीना त्रिवेदी के युगल गीत प्रस्तुत हुए। कुसु स्वाइका ने भी गीत सुनाया। श्री राज कुमार अग्रवाल, श्रीमती नर्मदा अग्रवाल, ललिता दुबे एवं जयन्ती पाठक आदि ने कविता एवं गीत का भरपूर आनंद उठाया। **प्रस्तुति : डॉ. हरेराम पाठक, हिंदी विभाग, डिगबोई महिला महाविद्यालय,**



## ‘हिंदी साहित्य में किसान : सपने, संघर्ष, चुनौतियाँ और 21वीं सदी’ पर राष्ट्रीय शोध संगोष्ठी संपन्न

दिनांक 27-28 फरवरी 2015 को छत्तीसगढ़ के सरगुजा संभाग के सुदूर वनांचल स्थित शासकीय लाहिड़ी महाविद्यालय चिरमिरी जिला कोरिया के हिंदी विभाग द्वारा ‘हिंदी साहित्य में किसान: सपने, संघर्ष, चुनौतियाँ और 21वीं सदी’ विषय पर राष्ट्रीय शोध संगोष्ठी का आयोजन किया गया। संगोष्ठी के पहले दिन उद्घाटन सत्र में बीज वक्तव्य देते हुए युवा आलोचक डॉ. आशीष त्रिपाठी ने कहा कि आज किसान लगातार साहित्य और समाज के हाशिए पर धकेला जा रहा है। किसान को जमीन से बेदखल करने के लिए नए-नए षड्यंत्र रचे जा रहे हैं। अपनी जमीन से विस्थापित होकर किसान शहरी दिहाड़ी मजदूर बनने को मजबूर हो रहा है। ताजा भूमि अधिग्रहण कानून किसानों के लिए बेहद खतरनाक है। मुख्य वक्ता के रूप में बोलते हुए इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष प्रो. मुश्ताक अली ने कहा कि यह संगोष्ठी बेहद महत्वपूर्ण और संवेदनशील विषय पर आयोजित हो रही है। किसान जो कभी खेती से जुड़ा रहता था आज पलायन को मजबूर है। प्रेमचंद के गोदान में कृषक जीवन की जिस पीड़ा का अंकन है वह भारतीय किसान की दारुण कथा है। आज भी हमारा किसान त्रासदीपूर्ण जीवन जी रहा है, लगातार हो रही किसान आत्महत्याएँ हमें विचलित करती हैं। विशिष्ट वक्ता के रूप में बोलते हुए वरिष्ठ कथाकार महेश कटारे ने कहा कि आज हिंदी साहित्य के विविध विधाओं में किसान को और ‘स्पेस’ की जरूरत है। इसके पूर्व संगोष्ठी का संचालन कर रहे संगोष्ठी के संयोजक और आयोजन सचिव डॉ. रामकिंकर पांडेय ने संगोष्ठी के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए कहा कि आज हम एक क्रूर समय में जी रहे हैं जहाँ किसानों को लगातार हाशिये पर धकेला जा रहा है। साहित्य, कला, फिल्म सब जगह से उनकी उपस्थिति लगभग गायब होती जा रही है। ऐसे में किसान जीवन पर बात करना और भी समीचीन हो जाता है। संगोष्ठी के चार तकनीकी सत्रों में लगभग बीस शोध पत्रों का वाचन किया गया जिस पर उपस्थित विषय विशेषज्ञों ने अपनी राय रखी।

28 फरवरी को समापन सत्र में मुख्य वक्ता के रूप में बोलते हुए वरिष्ठ कवि-आलोचक प्रो. दिनेश कुशवाहा ने कहा कि आज किसानों की आवाज दबाई जा रही है जिसके लिए लेखक समुदाय को आगे आना होगा। विशिष्ट वक्ता डॉ. चंद्रिका प्रसाद चंद्र ने कहा कि आज किसान की पीड़ा सुनने वाला कोई नहीं है। अध्यक्ष प्रो. सेवाराम त्रिपाठी ने कहा कि आज यह विचार करने का समय है कि किसान आखिर साहित्य और समाज से क्यों उपेक्षित हो रहा है। उन्होंने कहा कि यह संगोष्ठी किसान जीवन पर बात करने का सार्थक माध्यम है। प्रमुख वक्ताओं में भागवत प्रसाद दुबे, डॉ. यशवंत सिंह, डॉ. विवेक श्रीवास्तव, डॉ. रविन्द्र साहू, डॉ. विनोद विश्वकर्मा, डॉ. उमेश पांडेय, डॉ. पुनीत राय, डॉ. विशाल विक्रम सिंह, डॉ. कन्हैया त्रिपाठी, डॉ. विवेकानंद उपाध्याय, डॉ. रमेश कुमार गोहे, डॉ. रामकुमार मिश्र, डॉ. शशिभूषण मिश्रा, डॉ. राजेश मिश्रा आदि सम्मिलित रहे। आभार प्रदर्शन करते हुए महाविद्यालय के वरिष्ठ प्राध्यापक और समाजशास्त्र विभाग के अध्यक्ष प्रो. मुकुल रंजन गोयल ने कहा कि सुदूर वनांचल में स्थित इस महाविद्यालय में देश के कोने-कोने से आए हुए प्राध्यापकों, प्रतिभागियों और शोधार्थियों को पाकर हम सभी अभिभूत हैं। उन्होंने कहा कि इस दुर्गम जगह पर बड़ी संख्या में लोगों की प्रतिभागिता ही इस राष्ट्रीय शोध संगोष्ठी की सफलता है।

**प्रस्तुति: राम किंकर पांडेय**

आपका संपादकीय आलेख पढ़ा। आपके ख्यालों से लगा कि जैसा होना चाहिए वैसा करने की आपने ठान ली है। मैंने जब अवस्थिति पढ़ी तो पाया कि इसमें वो रटे रटाये तथाकथित प्रतिष्ठित नाम नहीं हैं तो हर पत्रिका में पाए जाते हैं, इसलिए मुझे ये पत्रिका विशेष लगी और मैं लिखने बैठ गया। मुआफ़ कीजियेगा, मैं कोई समीक्षक नहीं हूँ, हाँ शायर जरूर हूँ। विद्यार्थी मंच की सोच भी नई और सकारात्मक है।

आज बैनर बिक रहा है और इस बैनर को कुछ कतिपय नामों के कारण तथाकथित प्रतिष्ठा मिल रही है जो अपने ही जैसे चंद लोगों को साथ में लेकर इसका निर्माण करते हैं और इस बैनर में प्रकाशित होकर बहुत से कांतर साहित्यकार भी प्रतिष्ठित हो चुके हैं, जो आपस में एक-दूसरे की समीक्षा करके प्रतिष्ठित बने रहना चाहते हैं। आपकी पत्रिका ने वो चक्रव्यूह तोड़ दिया है। बहुत-बहुत मुबारकबाद!

उम्मीद करता हूँ कि इसमें जो साहित्य प्रकाशित होगा वो नई पीढ़ी को आकर्षित करने वाला होगा। साथ ही मुक्तिबोध जैसे वरिष्ठ साहित्यकारों का परिचय भी नई पीढ़ी से करवाने में कामयाब रहेगा। पत्र में कुछ नागवार गुजरे तो क्षमा कीजियेगा। मेरी गज़लें प्रकाशित करने का शुक्रिया....

अशोक मिजाज

मुक्तांचल का अक्टूबर-दिसंबर अंक जो 'मुक्तिबोध विशेषांक' है प्राप्त हुआ। धन्यवाद! मुक्तिबोध पर बेहतरीन अंक हेतु बधाई। रामनिहाल गुंजन के मुक्तिबोध प्रगीत के संदर्भ में आलेख मुक्तिबोध को नयी तरह से समझने के दरवाजे खोलता है। सुलेखा कुमारी के मुक्तिबोध के पत्रों से उन्हें अधिक गहराई और उनकी गहन संवेदनशीलता को जानने का अवसर प्राप्त हुआ। लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता का आलेख काफी सधा हुआ और विश्लेषणात्मक है। अंक संग्रहणीय है। कला संपादन हेतु शुभागता को भी बधाई। आवरण पृष्ठ आकर्षक है।

आज विभिन्न साहित्यिक चर्चाओं एवं पत्र-पत्रिकाओं में रामविलास शर्मा के पूर्वाग्रहों पर मत वैभिन्न्य जारी है। जो उन्होंने मुक्तिबोध के संदर्भ में व्यक्त किए हैं पर पूरा सच न जाने क्यों व्यक्त नहीं कर पाये। ये भी एक पहेली है... ?

सुसंस्कृति परिहार

'मुक्तांचल' का अक्टूबर-दिसम्बर 2014 अंक यथासमय प्राप्त हो गया। धन्यवाद! आपने मुक्तिबोध अंक की अच्छी तैयारी कर ली थी। प्रकाशित होने पर यह एक स्मरणीय अंक के रूप में सामने आया है। इसमें प्रकाशित संपादकीय से लेकर सभी लेख अच्छे लगे। इसमें मुक्तिबोध की कहानी 'दो चेहरे' भी अच्छी है। इसमें मुक्तिबोध की कुछ कविताएँ और एकाध लेख भी रहते तो बेहतर होता। बहरहाल मुक्तिबोध की रचनाओं और लेखों पर आधारित आलेखों की संख्या पर्याप्त है इसलिए उनका अभाव नहीं खलेगा। इनके अलावा इस अंक में प्रकाशित ध्रुवदेव मिश्र 'पाषाण' की कविता 'एक हर्फनामा : मुक्तिबोध से जुड़ते हुए' एक यादगार कविता है जिससे अंक का महत्त्व बढ़ गया है। वैसे रामदरश मिश्र की कविताएँ, सिद्धेश और सुरेश कांटक की कहानियाँ और शोध छात्रा राजकुमारी की कविता 'प्रतिकार' भी खास तौर पर पसंद आयी। पत्रिका को आनंद जी और अर्चना जी का अपेक्षित सहयोग मिल रहा है, यह देखकर प्रसन्नता हुई। आशा है आप सानंद है।

रामनिहाल गुंजन

पत्रिका का मुख पृष्ठ एक खास तरह की दृष्टि से लैस है। एक मुक्तिबोध की कविता और दूसरा चित्रकार के रंग-चयन के कारण। लेखों की सूची में बड़ी बात है नये अंकुरों को जगह। कहानी, आलोचना, पत्र सब में मुक्तिबोध की दृष्टि में एक समानता की बात आयी है। जैसे, सुलेखा जी के लेख में मुक्तिबोध के पत्र बोलते हैं (क्योंकि न सिर्फ मैं अपनी राह को खोजता हूँ बल्कि वह मुझे खोजती है।) रविरंजन के लेख में सौन्दर्य और कविता के मूल्यों का सार्थक विश्लेषण है। संपादकीय में “अंधेरे में” की चर्चा, उसके साथ आपकी दृढ़ता और प्रतिबद्धता सराहनीय है। आपने जो सवाल रखा है क्या पत्रिका केवल छात्रों के लिए है या अध्यापकों के लिए है? नहीं, मैं यह कहूँ कि पत्रिका लेखन और लेखक के बाजार में आए केरियरिज्म के खिलाफ है। इसे आप मुद्दा जरूर बनाइए। मेरे पेशे यानि विश्वविद्यालय और उसके बाहर लेखक खुद ही मार्केटिंग करता है। विश्वास करेंगे कि राँची या उसके बाहर एक उपन्यास या एक कहानी पर दिन भर में लेखकों का शिविर खड़ा कर लिया जाता है। संपादकीय में आप के बोल सही हैं। अकादमिक जगत भी उस “अंधेरे” से मुक्त नहीं है।

अरुण कुमार, हिंदी विभाग, राँची विश्वविद्यालय

श्री विमल जी से ‘मुक्तांचल’ के दोनों अंक जनवरी में कोलकाता यात्रा के दौरान मिले। इसके पूर्व अभिव्यंजना का एक अंक विमल जी से प्राप्त हुआ था। मैंने आपको पत्र व एक साक्षात्कार भी भेजा था। शायद मिला होगा। पत्रिका शोध, समीक्षा, सृजन एवं संचार से संगठित है। कृष्णदत्त पालीवाल, विमल वर्मा, हेमंत कुमार शुक्ल के आलेख नये समय के अनुसार नये प्रश्न उठाते हैं। कविताएँ ठीक ठाक हैं। कुल मिलाकर पहला अंक पठनीय है। दूसरा अंक ‘मुक्तिबोध विशेषांक’ महत्वपूर्ण अंक है। इस अंक के रचनाकारों को आँख मन खोलकर पढ़ना चाहिए। कुछ आलेखों में पुनरावृत्ति भी है लेकिन उपाय नहीं है। विमर्श में विमल वर्मा और आत्माराम पठनीय है। अतः अन्तःपाठ में तीनों आलेख महत्वपूर्ण हैं। पाठकों की समस्या पर सुनील कुमार ने सही व्याख्या की है। कविताएँ, गज़लें ठीक हैं। सुरेश कांटक क्या कहना चाहते हैं इतना यथार्थ कि कहानी की आत्मा ही गायब हो गयी। कुल मिलाकर यह अंक केवल पठनीय ही नहीं है, संग्रहणीय भी है। मेरी ओर से शुभकामना। विश्वास है अगला अंक बिकानेर भेजियेगा।

श्री हर्ष, बिकानेर

मुक्तिबोध पर ‘मुक्तांचल’ के (अक्टूबर-दिसम्बर) अंक में खासी शोध परक सामग्री है। विद्वानों ने मन से लिखा है। अंक को संभालकर रखना पड़ेगा। अन्यान्य रचनाएँ भी पठनीय हैं। अशोक मिजाज की गज़लों ने विशेषतः प्रभावित किया। कहानियाँ भी मर्मस्पर्शी हैं।

अशोक अंजुम, अलीगढ़

आज के समय में साहित्यिक पत्रिका निकालना कठिन है, पर आपने ‘मुक्तांचल’ जैसी सुदृढ़ पत्रिका निकाली। इस हेतु साधुवाद! आप इसी प्रकार सद्कार्यों को बढ़ाती रहें।

कुसुम खेमानी, कोलकाता

इस पार तक...

कृष्णदत्त पालीवाल  
(4 मार्च 1943 - 8 फरवरी 2015)



हिंदी की सिद्धांत-दृष्टियों पर भारतीय-पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रभाव है 'आतंक' नहीं। लेकिन हिंदी-समीक्षाशास्त्र पश्चिमी समीक्षाशास्त्र का 'उपनिवेश' नहीं है, उसका अपना स्वतंत्रचिंतन है, संस्कृति है- 'परंपरा' है।

हम भारतीयों की परंपरा रही है किसी भी विचार, विचारधारा, वस्तु, स्थिति, मूल्य, प्रकरण को 'जस का तस' स्वीकार न करना। रस हो या ध्वनि हमने लगातार 'शंका' उठाई है- प्रश्नाकुलता के साथ सदियों तक इन की सार्थकता, प्रासंगिकता, शक्ति एवं सीमा पर वाद-विवाद-संवाद किया है। हमारे चिंतन के केंद्र में रचनाकार नहीं रहा है- कृति या कलाकृति रही है। 'पाठ' केंद्रित बहुलार्थक 'भाष्य' और 'टीका' में हमारी क्षमताओं का आश्चर्यजनक विकास हुआ।

हर देश और काल का पाठक शास्त्र की जड़ता का अतिक्रमण करके ही गतिशील जीवन-यथार्थ का साक्षात्कार करता रहा है और अब तो 'पाठकवादी आलोचना' का ज़माना है।

हिंदी आलोचना के नये वैचारिक सरोकार

प्रयात् चिंतक-सिद्धांतकार को सतत् प्रणाम!



Application No: 1254088

Title code: WBHINO1615/25/1/2014-TC, Dtd: 18/07/2014



स्वानित्य : हावड़ा विद्यार्थी मंच

मुद्रक : गोपी कृष्ण पाल्पुई

प्रकाशक : आनन्द कुमार सिन्हा

प्रकाशक का पता : 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन, सलकीया हावड़ा-711106

मुद्रक का पता : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता 700 009

संपादक : डॉ. भीरा सिन्हा